* ॐ श्रीपरमात्मने नमः *

कल्याण

मूल्य ८ रुपये

रोगीकी सेवासे भगवद्दर्शन

जटायु पर कृपा

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

कल्याण

शान्ता महान्तो निवसन्ति सन्तो वसन्तवल्लोकहितं चरन्तः।
तीर्णाः स्वयं भीमभवार्णवं जनानहेतुनान्यानपि तारयन्तः॥

वर्ष ८९ | गोरखपुर, सौर फाल्गुन, वि० सं० २०७१, श्रीकृष्ण-सं० ५२४०, फरवरी २०१५ ई० | संख्या २

पूर्ण संख्या १०५९

'राघौ गीध गोद करि लीन्हों'

राघौ गीध गोद करि लीन्हों।
नयन-सरोज सनेह-सलिल सुचि मनहु अरघजल दीन्हों॥
सुनहु लषन! खगपतिहि मिले बन मैं पितु-मरन न जान्यौ।
सहि न सक्यौ सो कठिन बिधाता, बड़ो पछु आजुहि भान्यौ॥
बहु बिधि राम कह्यो तनु राखन, परम धीर नहि डोल्यौ।
रोकि, प्रेम, अवलोकि बदन-बिधु, बचन मनोहर बोल्यौ॥
तुलसी प्रभु झूठे जीवन लगि समय न धोखो लैहौं।
जाको नाम मरत मुनिदुरलभ तुमहि कहाँ पुनि पैहौं?॥

रघुनाथजीने गृध्रको गोदमें उठा लिया और अपने नयनकमलद्वारा स्नेहरूप पवित्र जलसे मानो अर्घ्यदान किया। फिर कहने लगे—'लक्ष्मण! सुनो, वनमें पक्षिराजसे मिल लेनेपर मुझे पिताजीका मरना याद ही नहीं आया, परंतु कुटिल विधाता मेरे इस सुखको सहन नहीं कर सका; इसीसे आज उसने यह बड़ा प्रबल पक्ष नष्ट कर दिया।' फिर रघुनाथजीने जटायुसे शरीर रखनेके लिये बहुत प्रकार कहा; परंतु वह परम धीर अपने निश्चयसे विचलित नहीं हुआ और अपने प्रेमको रोक, प्रभुका मुखचन्द्र देखकर ये मनोहर वचन बोला—'हे प्रभो! इस समय झूठे जीवनके लिये मैं धोखा नहीं खाऊँगा। भला जिनका नाम मरते समय मुनियोंको भी दुर्लभ है, उन आपको मैं फिर कहाँ पाऊँगा।' (गीतावली)

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

(संस्करण २,१५,०००)

कल्याण, सौर फाल्गुन, वि० सं० २०७१, श्रीकृष्ण-सं० ५२४०, फरवरी २०१५ ई०

विषय-सूची

विषय — पृष्ठ-संख्या

चित्र-सूची

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत्-चित्-आनँद भूमा जय जय॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय॥
जय विराट् जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥

एकवर्षीय शुल्क
अजिल्द ₹ २००
सजिल्द ₹ २२०

पंचवर्षीय शुल्क
अजिल्द ₹ १०००
सजिल्द ₹ ११००

विदेशमें सजिल्द शुल्क Air Mail — वार्षिक US$ 45 (₹ 2700); पंचवर्षीय US$ 225 (₹ 13500) — Us Cheque Collection Charges 6$ Extra

संस्थापक—**ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका**
आदिसम्पादक—**नित्यलीलालीन भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार**
सम्पादक—**राधेश्याम खेमका,** सहसम्पादक—**डॉ० प्रेमप्रकाश लक्कड़**
केशोराम अग्रवालद्वारा गोबिन्दभवन-कार्यालय के लिये गीताप्रेस, गोरखपुर से मुद्रित तथा प्रकाशित

website : **www.gitapress.org** | e-mail : **kalyan@gitapress.org** | ✆ **(0551) 2334721**

सदस्यता-शुल्क—**व्यवस्थापक—'कल्याण-कार्यालय', पो० गीताप्रेस—२७३००५, गोरखपुर को भेजें।**
Online सदस्यता-शुल्क भुगतानहेतु gitapress.org पर **Online Magazine Subscription** option को click करें।
अब 'कल्याण' के मासिक अङ्क kalyan-gitapress.org पर नि:शुल्क पढ़ें।

कल्याण

याद रखो—तुम्हारे पास जो कुछ है, सब भगवान्‌का है और भगवान्‌की सेवाके लिये ही है। उसे अपना मानकर उसका केवल अपने भोगमें उपयोग करना बेईमानी है। इस बेईमानीसे बचो और समस्त प्राप्त साधनोंको भगवान्‌की सेवामें लगाओ।

याद रखो—सबमें भगवान् हैं। समस्त जीवोंके रूपमें भगवान् ही अभिव्यक्त हैं। अतएव उनके जिस किसी रूपको जब भी जिस वस्तुकी आवश्यकता हो और वह यदि तुम्हारे पास हो तो 'भगवान्‌की वस्तु भगवान्‌के अर्पण कर रहे हो'—इस भावसे बिना अभिमानके नम्रतापूर्वक उसे समर्पण कर दो।

याद रखो—सच्ची सेवा करनेवाला जगत्‌में सदा-सर्वत्र सबमें भगवान्‌के दर्शन करता है। सेवा करना उसका स्वभाव ही है। वह ऊँच-नीच, अपना-पराया, मित्र-शत्रु नहीं देखता। उसे जब सेवाका अवसर मिलता है, तब वह अपना सौभाग्य समझता है।

याद रखो—सेवाका न विज्ञापन होता है, न दूकान खुलती है। सेवा सेवकका सहज स्वभाव होता है। सेवाका अभिप्राय है, अपने पास जो कुछ भी साधन-सामग्री, तन-धन, विद्या-बुद्धि आदि हैं और जो कुछ भी शक्ति है, वह सब सेवाके लिये है और सेवामें ही विनयपूर्वक किसी प्रकारकी कामना न रखते हुए उनका उपयोग करना।

याद रखो—सेवकमें सात बातें होनी चाहिये—(१) सेवामें विश्वास, (२) सेवाकी पवित्रता, (३) सेवामें गौरव, (४) सेवामें आत्मसंयम, (५) सेवामें उत्साह, (६) सेवामें प्रीति और (७) विनयभाव।

याद रखो—पापमें सहायता-सहयोग देना सेवा नहीं है। दूसरोंको सतानेवाले, खूनी, डकैती, व्यभिचारी पराया स्वत्व हरण करनेवाले—ऐसे लोगोंकी उनके इन कामोंमें सहायता करना सेवा नहीं है। इन कामोंसे तो कर्ताका बड़ा अनिष्ट होता है और किसीके अनिष्ट-साधनमें सहायता करना सेवा नहीं, वह तो पापका समर्थन है।

याद रखो—सेवकमें त्याग तथा विनयका होना परमावश्यक है। बिना त्याग सेवा नहीं होती और विनय हुए बिना अभिमान उत्पन्न होता है। वह जिसकी सेवा करता है, उसको नीचा और अपनेको ऊँचा मानने लगता है। त्याग और निरभिमानता हुए बिना बदला चाहना, कृतज्ञताकी आकांक्षा करना, कृतज्ञ न होने या बदला न चुकानेपर नाराज होकर उसे कृतघ्न मानना, उससे द्वेष करना आदि दोष उत्पन्न होकर सेवाके पवित्र स्वरूपको ही नष्ट कर देते हैं।

याद रखो—सेवक जिसकी सेवा करता है, न तो उसके पूर्व-इतिहासको देखता है, न भविष्यमें उसका कैसा बर्ताव होगा, यह देखता है। वह तो उसकी वर्तमान निर्दोष आवश्यकताको देखता है और सीधे-सादे तौरपर अपने साधन तथा शक्तिके अनुसार उसकी सेवा करता है।

याद रखो—सच्चे सेवककी ममता सेवामें रहती है, उसकी कामना सेवाकी शक्ति बढ़ानेको होती है, उसका अहंकार विनम्रतामें परिणत हो जाता है और वह सेव्यको भगवान्‌के रूपमें और अपनेको नित्य सेवकके रूपमें देखता है।

याद रखो—सेवक न मान-बड़ाई चाहता है, न दूसरोंपर हुकूमत करना चाहता है, न वह किसीको अपना-पराया मानकर राग-द्वेष रखता है, न किसीको अज्ञानी-मूर्ख मानता है या अपनेसे नीचा मानता है, न किसीकी निन्दा-चुगली करता है और न कभी किसीसे अपने लिये आराम, अच्छे भोजन या सेवाकी ही आकांक्षा करता है।

याद रखो—सच्चे सेवकमें प्राणी-मात्रकी सेवाकी भावना सहज रहती है। वह दयालु, निर्मलमन, धैर्यशील, चतुर, उद्यमी, श्रद्धालु, नित्य सत्कर्मपरायण, चरित्रवान्, संयतेन्द्रिय, अत्यन्त विनम्र तथा दूसरोंके हितके लिये ही जीवन धारण करनेवाला होता है। वह यथासाध्य सेवाको गुप्त रखना चाहता है। सेवा ही उसके जीवनका स्वरूप होता है।

याद रखो—सेवा निष्काम तथा विनम्र चित्तमें प्रकट भगवान्‌का विशुद्ध तथा मधुर प्रसाद है। वह कोई लेन-देनका व्यापार नहीं है और न अभिमान उत्पन्न करके दूसरोंको नीचा दिखानेवाला सदोष प्रयत्न है।

सो अनन्य जाके असि मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूपस्वामि भगवंत॥

'शिव'

परम सेवा

(ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

एक सेवा है और दूसरी परम सेवा। दूसरेके हितके लिये भोजन-वस्त्र देना, शरीरको आराम पहुँचाना, सांसारिक सुखके लिये तन-मन-धन अर्पण करना सेवा है। परम सेवा यह है कि अपना तन-मन-धन अर्पण करके दूसरेका कल्याण कर दे। किसीको आजीविका देना लौकिक सेवा है। जो परमात्माकी प्राप्तिमें लगे हुए हैं उन्हें परमात्माके निकट पहुँचनेमें मदद देना पारमार्थिक सेवा है। कोई मरनेवाला है और उसकी इच्छा है कि मुझे कोई गीताजी सुनाये। आप उसके पास पहुँच गये और उसको गीताजी सुनायी तो यह परम सेवा हुई। परम सेवा वह है जिसके बाद उसको सेवाकी आवश्यकता न रहे। आपने लाख आदमियोंकी सेवा की, रुपया-औषधि दिया, भोजन आदि दिया, दूसरी ओर आपने एककी भी परम सेवा की तो यह उनसे बढ़कर है। उसके अनेक जन्मोंका अन्त करा दिया। अनन्त जन्म होनेसे उसकी रक्षा की। मृत्युका सागर सामने है। गीतामें भगवान्‌ने बताया है—

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्॥

(गीता ९। २)

यह विज्ञानसहित ज्ञान सब विद्याओंका राजा, सब गोपनीयोंका राजा, अति पवित्र, अति उत्तम, प्रत्यक्ष फलवाला, धर्मयुक्त, साधन करनेमें बड़ा सुगम और अविनाशी है।

इस प्रकार भगवान् प्रतिज्ञा करके कहते हैं। अर्जुनको शंका हुई कि जब ऐसी सुगम और प्रत्यक्ष फलवाली धर्ममय बात है तो सब इसका पालन क्यों नहीं करते? तब भगवान्‌ने कहा—

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परन्तप।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि॥

(गीता ९। ३)

हे परन्तप! इस उपर्युक्त धर्ममें श्रद्धारहित पुरुष मुझको न प्राप्त होकर मृत्युरूप संसारचक्रमें भ्रमण करते रहते हैं।

जैसे जलका सागर है, वैसे मृत्युका सागर है। जैसे समुद्रमें जलके अनन्त कण हैं, उसी प्रकार जबतक मोक्ष नहीं होगा, तबतक भविष्यमें होनेवाली मृत्युकी संख्या नहीं है। आपके द्वारा एकका कल्याण हो गया तो वह परम सेवा है। इसके मुकाबलेमें करोड़ोंकी आजीवन सेवा भी नहीं है। जब आपको परम सेवाका मौका मिले—मरनेवाला चाहता है कि हमारा भविष्य नहीं बिगड़े तो ऐसी सेवा करनी चाहिये। शिवका भक्त हो तो उसके गलेमें रुद्राक्षकी माला धारण करायें एवं भगवान् शिवका नाम और गुणोंका कीर्तन सुनायें और विष्णुका भक्त हो तो भगवान् नारायणका नाम और गुणोंका कीर्तन सुनायें, तुलसी तथा गंगाजल दें। अन्तकालमें भगवन्नाम-स्मरण करायें। उसके सामने भगवान्‌का चित्र रखें। नेत्रोंके सामने भगवान्‌का स्वरूप रहे और नामका कीर्तन होता रहे तो भीतर भगवान्‌की स्मृति होगी।

परम सेवा करनेकी चेष्टा करें। भगवान्‌से प्रार्थना करें। यदि इस कामके लिये नरकमें भी जाना पड़े तो स्वीकार करें। वह नरक भी आपके लिये वैकुण्ठसे बढ़कर होगा। एक कथा आती है—कोई भक्त यमलोकके पाससे होकर जा रहा था, कुछ लोग रोते-चिल्लाते सुनायी पड़े। उसने भगवान्‌के पार्षदोंसे पूछा कि यह क्या है? पार्षद बोले—'महाराज यह यमलोक है, यहाँ जीव यम-यातना भोग रहे हैं।' अच्छा, विमान रोको और कुछ निकट ले चलो। पहुँचे तो लोगोंने कहा कि आपके दर्शनसे और आपके स्पर्श की हुई वायुसे हमें प्रसन्नता और शान्ति हो रही है। यमके सब शस्त्र भोथरे हो रहे हैं, यम-यातना कम हो गयी है, इसलिये आपसे यह प्रार्थना है कि आप जितनी देर अधिक ठहर सकें उतने अधिक ठहर जायँ। वे वहीं ठहर गये। पार्षदोंने कहा—महाराज! चलिये। उसने उत्तर दिया—हम तो यहीं ठहरेंगे। पार्षदोंने कहा—आपको तो वैकुण्ठलोकमें चलना

है। उसने कहा कि भगवान्‌को यह सन्देश दे देना कि इन लोगोंकी भी वहाँ गुंजाइश होती हो तो वहाँ चलें, अन्यथा हम यहीं रहेंगे। तुम पूछ आओ। पार्षद उधर गये और इधर इन्होंने भगवान्‌का कीर्तन कराना शुरू किया तो भगवान् प्रकट हो गये। सबका उद्धार कर दिया। किसीकी परम सेवा करनेका मौका मिले तो परम सौभाग्य मानना चाहिये।

गीता, भागवत, रामायणकी पुस्तकें निःशुल्क या कम कीमतमें दें। गीता, भागवत, रामायणकी कथा कहें—सुनायें या सुनें। किसी प्रकार प्रचार करें। पैसा, समय, शक्ति इस कामें लगायें, जो अपने जन हों उन्हें भी इस काममें लगायें। तन-मन-धन-जन सबको भगवान्‌के काममें लगायें। जो दूसरोंमें भगवान्‌का प्रचार करता है, वह भगवान्‌का परमभक्त है। भगवान् कहते हैं—'हे अर्जुन! तुम्हारे और मेरे संवादका जो कोई संसारमें प्रचार करेगा, उससे बढ़कर मेरा प्यारा काम करनेवाला संसारमें न है और न होगा।'

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि॥

(गीता १८।६९)

कबीर भक्त थे और उनका लड़का भी भक्त था। कबीर अपने लड़केको कहा करते थे कि बड़ी स्त्री माताके समान है, छोटी बहनके समान और भी छोटी हो तो वह पुत्रीके समान है। एक दिन कबीरने कहा—बेटा अब तुम्हारी आयु अठारह वर्षकी हो गयी है, तुम्हारा विवाह करेंगे। कमालने कहा—आप मेरा विवाह माता, बहन या लड़की किसके साथ करेंगे? कहा भी गया है—'**आधा भक्त कबीर था, पूरा भक्त कमाल।**'

रैदास भगवान्‌के भक्त थे, जातिके हरिजन थे। उनकी लड़की भी भक्त थी। कोई भगवान्‌के दर्शनके लिये रैदासके घर आया। रैदासने अपनी लड़कीसे कहा—बेटी, इसको गंगाजल पिला दो, इसे भगवान्‌के दर्शन हो जायँगे। जिस पानीमें चमड़ा रँगा जाता था उसमेंसे लोटा भरकर ले गयी। चमड़ा रँगनेवाला होनेसे उसने वह पानी नहीं पीया, किंतु एक दूसरा भक्त जिसकी श्रद्धा थी उसने पी लिया तो उसे भगवान्‌के प्रत्यक्ष दर्शन हो गये, वह नाचने-गाने लगा। उसके कपड़ेपर कुछ पानी गिर गया था। वह कपड़ा पानीमें निचोड़-निचोड़कर लोग पानी पीने लगे, जिसने पिया उसको दर्शन हो गये। बादमें उस भक्तको अपनी भूल समझमें आयी तो वह रैदासजीके पास पुनः गया। रैदासजीने कहा—'वह पानी मुलतान गया अब फेर नहीं आवना।' वह लड़की तो ससुराल गयी। उसका ससुराल मुलतान था।

यह मनुष्य-शरीर, भारतभूमि, आर्यावर्त-उसमें भी उत्तराखण्ड, भगवती गंगाका किनारा, उसकी रेणुकाका आसन, गंगाका जल पीने और स्नानके लिये मिलता है। इससे बढ़कर पवित्र और एकान्त स्थान नहीं। ऐसा मौका अपने घरपर नहीं मिलता। वटकी छायाके मुकाबले और छाया नहीं, जो शीतकालमें गरम और गर्मीमें शीतल रहती है। सनातन धर्म सबसे प्राचीन है। उत्तम देश, काल और जाति मिली है, ऐसा मौका पाकर फिर भी अपना कल्याण नहीं हो तो तुलसीदासजी कहते हैं—

जो न तरै भव सागर नर समाज अस पाइ।
सो कृत निंदक मंदमति आत्माहन गति जाइ॥

(रा०च०मा० ७।४४)

सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताइ।
कालहि कर्महि ईस्वरहि मिथ्या दोस लगाइ॥

(रा०च०मा० ७।४३)

एक विज्ञानानन्दघन ब्रह्मके सिवाय कोई नहीं है। शरीर और संसारका अत्यन्ताभाव कर दे, मानो है ही नहीं और उस विज्ञानानन्दघन ब्रह्ममें तन्मय कर दे, फिर आनन्द-ही-आनन्द है। पूर्णानन्द, अपार आनन्द....इस प्रकारका ध्यान निर्गुण-निराकार ब्रह्मका ध्यान है। जो स्वरूप प्राप्त होता है, वह ध्यानवाले स्वरूपसे अत्यन्त विलक्षण है।

जिसके प्राण जा रहे हैं, उसको भगवद्‌विषयक बात सुनायी जाय तो वह सबसे बढ़कर है। निष्काम-कर्मका थोड़ा-सा पालन महान् भयसे उद्धार कर देता है।

सेवा-दर्शन

(स्वामी श्रीरामराज्यम्‌जी)

आध्यात्मिक साधनामें सेवाकी अवधारणा अति महत्त्वपूर्ण है। ज्ञानी, कर्मयोगी तथा भक्तिके लिये सेवाका स्वरूप भिन्न-भिन्न हो सकता है, परंतु किसी-न-किसी रूपमें तीनों ही सेवासे प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्षरूपसे जुड़े रहते हैं।

साधनाभ्यास करते समय असीम भगवान्‌से जुड़नेके लिये अपने अन्दर असीमताका भाव होना जरूरी है। अपने और दूसरोंके बीच विभाजन-रेखा खींचकर हम ससीमताके भावसे ग्रस्त हो जाते हैं। जब हम इस रेखाको मिटा देते हैं और फलस्वरूप दूसरों अर्थात् भगवान्‌की सृष्टिके समस्त प्राणी-पदार्थोंके साथ ऐक्यका अनुभव करने लगते हैं, तब असीमताका भाव उत्पन्न हो जाता है। इस भावके रहनेसे 'स्व' के हितकी भावना तिरोहित हो जाती है। हम अपने शरीर तथा अपने कहे जानेवाले पदार्थोंको भगवान्‌की समस्त सृष्टिकी सम्पत्ति मानकर उन्हें सहज ही उसके हितके लिये इस्तेमाल करने लगते हैं। यही वास्तविक सेवा है। असीमताके भावपर आधारित इस सेवाके सूत्रसे हम असीम भगवान्‌के साथ जुड़ जाते हैं, हमारे जीवनका औंधा पात्र सीधा हो जाता है। उस पात्रमें भगवत्कृपाकी वर्षाकी बूँदे गिरने लगती हैं।

सेवाके पक्ष

सेवाके पक्ष हैं—भावपक्ष तथा क्रियापक्ष।

भावपक्ष—सेवाका मुख्य भाव है दूसरों (परिचित-अपरिचित, सज्जन-दुर्जन)-को सुख पहुँचाना, अधिक-से-अधिक प्राणियोंको अधिक-से-अधिक सुख पहुँचाना (Maximum good of the maximum number)।

भले ही हम दूसरोंको अधिक-से-अधिक सुख न पहुँचा पायें। (क्योंकि दूसरोंको सुख पहुँचानेमें हमारी स्वतन्त्रा सीमित है। भगवान्‌की इच्छासे ही हम दूसरोंको सुख पहुँचा सकते हैं), परंतु यह भाव अक्षुण्णरूपसे बना रहना चाहिये। भाव बनानेमें हम स्वतन्त्र हैं। भाव बनानेकी स्वतन्त्रताका उपयोग किया जाना चाहिये। इस भावसे भी सेवा हो जाती है, भले ही सेवाके साधन सीमित हों।

सेवाका एक अन्य महत्त्वपूर्ण भाव है—दूसरोंका दु:ख देखकर दुखी होने तथा दूसरोंका सुख देखकर सुखी होनेका भाव। यह भाव रखनेसे दुखी व्यक्तियोंका मनोबल बढ़ेगा और जो सुखी हैं, उनको अच्छा लगेगा। दूसरोंके दु:खमें दुखी होनेका अर्थ रोना-धोना नहीं है। इसका अर्थ है—दूसरोंका दु:ख दूर करनेकी यथासम्भव चेष्टा करना। दूसरोंका दु:ख दूर करना हमारे वशकी बात नहीं है, परंतु उसे दूर करनेके उद्देश्यसे अपनी क्षमता और साधनोंका मनोयोगपूर्वक उपयोग करना हमारे वशकी बात है। जितना हमारे वशमें हो, उतना अवश्य करना चाहिये, करते रहना चाहिये।

क्रियापक्ष—क्रियाके स्तरपर हम अपने सेवापरक भावोंको व्यावहारिक रूप देते हैं। ऐसा करनेके लिये दो बातोंकी आवश्यकता है—(१) सेवा-कर्म-सम्पादन, (२) सेवा-साधनों (सामग्री, धन, सहयोग आदि)-का उपलब्ध होना।

सेवा-कर्मको लेकर कोई भी कामना उत्पन्न नहीं होने देनी चाहिये। यह कामना सेवकको भगवान्‌से दूर कर देती है। यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि यदि सेवा करनेकी कामना नहीं होगी, तो सेवा-कर्म किस प्रकार किया जा सकेगा। इस प्रश्नका उत्तर यह है कि सेवा-कर्म करनेके लिये कामनाकी नहीं, सेवा करनेके लिये तत्पर होनेकी आवश्यकता है। सेवा-कर्म करनेकी कामना होनेसे मनमें इसी कामनासे सम्बन्धित विचार उठते रहते हैं और भगवान्‌की विस्मृति हो जाती है। इस कामनाके रहते यदि सेवा-कर्म करनेका अवसर मिल गया तो सेवा-कर्म करनेमें ही सारा समय व्यतीत हो जाता है, भगवान्‌की याद नहीं आती। यह एक सूक्ष्म भूल है जो साधकोंसे बहुधा हो जाती है। उन्हें यह बात

कभी नहीं भूलनी चाहिये कि भगवान्‌को भुलाकर की गयी सेवाका कोई मूल्य नहीं होता, भले ही वह सेवा बाह्यतः सुख-सुविधाओंका त्याग करके और अत्यन्त कष्ट उठाकर की गयी हो। सेवा करनेके लिये सेवा करनेकी तत्परता ही अपेक्षित है। सेवा करनेका अवसर उपस्थित हो तो उस अवसरका उत्तर देनेके लिये आधी रातको भी नंगे पैरों भागनेके लिये तत्पर रहना चाहिये; परंतु सेवा करनेकी कामनासे अपनेको दूर रखना चाहिये। सेवासे सम्बन्धित कामनाएँ अन्य कामनाओंके समान, अनेक मिलती-जुलती कामनाओंको उत्पन्न कर देती हैं और मनको उन कामनाओंकी पूर्तिके चिन्तनमें उलझा देती हैं। मन भगवान्‌से कोसों दूर हो जाता है।

हमें यह बात भी याद रखनी चाहिये कि सेवा करनेकी परिस्थितियाँ भगवान् ही बनाते हैं, सेवा करनेका अवसर भगवान् ही देते हैं और सेवा करनेकी क्षमता भी भगवान्‌से ही प्राप्त होती है। सेवारूपी कर्म-भूमिमें जो कुछ भी घटित होता है, वह भगवान्‌की ही लीला है। भगवान् ही अपनी लीलामें सहयोगी बनाकर हमको गौरवान्वित करते हैं।

सेवा-साधनोंके सन्दर्भमें यह बात महत्त्वपूर्ण है कि जितने भी साधन उपलब्ध हों, उनका उपयोग किया जाना चाहिये, परंतु और अधिक साधनोंके उपलब्ध होनेकी कामनासे सेवकको सदा मुक्त रहना चाहिये। इस कामनाके रहते मन उसकी पूर्तिके चिन्तनमें उलझा रहता है। यदि सेवाके भाव (जिनकी चर्चा पीछे की जा चुकी है) और सेवा करनेकी तत्परता अक्षुण्ण है, तो कम साधनोंसे भी पूरी-पूरी सेवा हो सकती है। सेवाके साधन सेवाके भावों तथा सेवा करनेकी तत्परताकी अपेक्षा गौण हैं। ये दोनों न हों तो प्रचुर सेवा-साधन उपलब्ध होनेपर भी वास्तविक सेवा नहीं हो पायेगी। ये दोनों हों तो सेवा-साधनोंकी न्यूनता या उनका अभाव होनेपर भी भगवान् कृपा करके ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न कर देते हैं कि सेवा-कार्य सन्तोषजनक ढंगसे सम्पन्न हो जाता है।

सेवा-साधनोंसे सम्बन्धित दूसरी बात यह है कि उनमें महत्त्व-बुद्धि नहीं रहना चाहिये। ऐसा करनेसे उन्हें उपलब्ध करानेवाले भगवान्‌का महत्त्व कम हो जाता है। यह सेवककी बहुत बड़ी हानि है। यदि साधन उपलब्ध हों तो उन्हें उपलब्ध करानेके लिये भगवान्‌को ही श्रेय दिया जाना चाहिये।

यदि सेवाके उपलब्ध साधनोंपर सेवकका ही स्वामित्व है तो सेवककी दृष्टिमें इस बातका कोई महत्त्व नहीं होना चाहिये अन्यथा सेवकमें इस बातका अभिमान उत्पन्न हो सकता है कि सेवा-कार्यमें उसने अपने साधनोंका उपयोग किया है। यह अभिमान सेवा-कार्यकी गुणवत्ताको कम ही नहीं, समाप्त कर देता है।

सेवा-कर्म-सम्पादनकी किसी परिस्थितिमें किन्हीं विशेष साधनोंकी आवश्यकता पड़ जाय, तो सेवा-साधन-सम्पन्न व्यक्तियोंसे उन साधनोंको उपलब्ध करानेकी याचना की जा सकती है। याचना कर्तव्यवश की जानी चाहिये। याचनाके फलस्वरूप प्राप्त अनुकूल या प्रतिकूल उत्तरसे सेवकको अप्रभावित रहना चाहिये। याचना करनेसे यदि साधन उपलब्ध हो जाय, तो सेवा-कार्यमें उनका उपयोग कर लिया जाना चाहिये अथवा जितने भी साधन उपलब्ध हों, उन्हींसे सेवा सम्पन्न कर देनी चाहिये, परंतु अनुपलब्ध साधनोंकी प्राप्तिकी कामनासे सेवा-कार्यको कलुषित नहीं होने देना चाहिये। यह कहा जा चुका है कि कामना करनेसे कामना-पूर्तिके चिन्तनमें मन व्यस्त हो जाता है और भगवान् दूर हो जाते हैं।

सेवा-कर्म करते समय सेवककी मनोदशा

प्रारम्भसे अन्ततक सेवा-कर्म भगवान्‌के स्मरणसे सन्तृप्त (Saturated) रहना चाहिये। सेवकको भगवान्‌की अदृश्य उपस्थितिका अनुभव होते रहना चाहिये। प्रति क्षण यह भाव बना रहना चाहिये कि सेवा-कर्मके फूलोंसे भगवान्‌की पूजा की जा रही है।

सेवा व्यक्तिगत सुखका साधन नहीं है

यदि सेवा करनेसे सेवकको व्यक्तिगत स्तरपर सुख

प्राप्त होता है, तो निश्चित ही उसका सेवा-कर्म अधिक-से-अधिक सेवा करनेकी कामनाका रूप ले लेगा। यह अपेक्षित नहीं है। प्रत्येक कामनाके साथ उसकी पूर्तिका विचार छायाकी तरह पीछे-पीछे आता है और भगवान्‌को विस्मरणके गर्तमें ढकेल देता है।

सेवासे सुख मिलता है, परंतु इस सुखका स्रोत होना चाहिये सेवासे उत्पन्न सेव्यका सुख। सेवासे सेवकको प्राप्त होनेवाले व्यक्तिगत सुखका कोई मूल्य नहीं है।

सेवा करनेसे जो मान-बड़ाई मिलती है, वह तो अवश्य मिलेगी, कोई-न-कोई प्रशंसाके गीत गायेगा ही, परंतु इससे राजी हो जाना एक गम्भीर भूल है—भले ही राजी होनेका भाव अव्यक्त रहे। इससे राजी होनेका अर्थ है कि सेवा व्यक्तिगत सुखका साधन बन रही है। इससे राजी होनेका यह भी अर्थ है कि इसके (मान-बड़ाई और प्रशंसा) प्रति राग, झुकाव आदिके भाव विद्यमान हैं। इन भावोंसे और अधिक मान-बड़ाई आदि प्राप्त करनेकी कामना उत्पन्न हो जाती है। यह कामना भगवान्‌को नकारती है। इस कामनासे ग्रस्त सेवककी सेवाका मूल्य शून्य हो जाता है।

सेवा करना ऋण-भार उतारना है

सेवा करके सेवक सेव्यको जो कुछ भी प्रदान करता है, उसपर उसका (सेव्य) ही अधिकार समझना चाहिये। दूसरे हमसे अपने-अपने अधिकारकी ही वस्तुएँ पाते हैं। उनके द्वारा हमसे पायी हुई वस्तुएँ उन्हींकी हैं। जिनकी वस्तुएँ हैं, उन्हें उन वस्तुओंको सेवाके माध्यमसे देकर हम अपना ऋण उतारते हैं। सेवा करके सेव्यपर हम कोई उपकार नहीं करते। वस्तुतः सेव्य ही हमें ऋण-भारसे मुक्त करके हमारा उपकार करते हैं।

सेवाका फल

सेवा-कर्मके फलके विषयमें न सोचे, यद्यपि फल (सेवा)-कर्मके पीछे-पीछे उसकी छायाकी तरह आता है। फलकी ओर ध्यान देनेसे फलका महत्त्व बढ़ जाता है और सेवा का महत्त्व कम हो जाता है। फिर सेवक दुकानदार बन जाता है। वह सेवाकी सामग्री बेचकर फलके रूपमें उसका मूल्य प्राप्त करनेका प्रयास करने लगता है।

सेवाका उद्देश्य सेवाका फल प्राप्त करना नहीं है। सेवाका उद्देश्य है अहंता और ममतासे मुक्त होना। अहंताका मतलब है अपने शरीरको अपना माननेकी भूल। ममताका मतलब है अपने पदार्थोंको अपना माननेकी भूल। अपने शरीरको सेवामें लगानेसे अहंता समाप्त होती है और अपने पदार्थोंको सेवामें लगा देनेसे ममता समाप्त होती है।

सेवा करनेकी पात्रता

निम्नांकित दो बातोंसे सेवा करनेकी पात्रता प्राप्त होती है—

१. यह भाव रखनेसे कि मेरे द्वारा किसीका अहित न हो।

२. सेवाके बदले किसीसे किंचित् भी कुछ प्राप्त करनेकी कामना न रखनेसे।

सेवाका क्षेत्र

सेवाका क्षेत्र अति व्यापक है। सड़कके किनारे बैठे हुए एक भिखारीसे लेकर भगवान्‌की समग्र सृष्टि इस क्षेत्रके अन्तर्गत है। इसमें स्थूल तथा सूक्ष्म सेवा—दोनों ही प्रकारकी सेवाका समावेश हो जाता है। चर और अचर—सभीके प्रति आत्मभाव रखते हुए तथा उनके सुख-दुःखको अपना सुख-दुःख समझते हुए उनके कल्याणके लिये भगवान्‌से प्रार्थना करते रहना उच्चकोटिकी सेवा है। जरूरतमन्दोंकी आवश्यकताएँ पूरी कर देना, दुखी मनुष्योंको मीठे बोल-बोलकर सान्त्वना देना, विकलांगोंके सहायक बनना आदि स्थूल सेवाके उदाहरण हैं। किसीको किंचित् भी दुःख न हो, मैं ही दूसरोंके सारे दुःख भोगूँ, दूसरोंका सुख-सम्पादन करते-करते ही मैं अन्तिम श्वास लूँ—इस प्रकारका मनोरथ रखना सूक्ष्म सेवा है। सांसारिकताके जंगलमें भूले-भटके इंसानोंको भगवत्प्रेमकी राह दिखाना—यह भी सूक्ष्म सेवा है।

सेवाके सूत्र

✿ सेवा-कर्मकी सिद्धि-असिद्धि (सफलता-असफलता)-के प्रति तटस्थता सेवा-कर्मकी शोभा है।

✿ सेवाका पहिया भगवान्‌की धुरीपर घूमता है।

✿ भगवान्‌की सारी शक्ति परहितमें लगी हुई है। हम भी पर-हितार्थ सेवा करें, तो भगवान्‌की शक्ति हमारे साथ हो जायगी।

✿ स्थूल सेवा सम्पूर्ण सेवा नहीं है। अहर्निश बने रहनेवाले परहितके भावसे स्थूल सेवा पूर्ण बनती है।

✿ सदा सोचें—मेरी वस्तुएँ मेरी नहीं हैं, मेरे लिये नहीं हैं। वे वस्तुतः सेव्यकी हैं, सेव्यके लिये हैं।

✿ यह न सोचें कि परिवारकी सेवा करनेसे अन्य किसी प्रकारकी सेवा करनेकी आवश्यकता नहीं है। केवल परिवारकी सेवा अपूर्ण सेवा है। इसमें परिवारके प्राणियों तथा पदार्थोंके प्रति आसक्ति और ममताके दोष छिपे रहते हैं। मैं परिवारकी सेवा कर रहा हूँ—यह अहंता भी छिपी रहती है।

✿ मैं भजन करता हूँ, मुझे सेवा करनेकी आवश्यकता नहीं है—इस विचारमें अहंता छिपी हुई है। इस अहंताके कारण भजन अधूरा रह जाता है।

✿ किसीको मुझसे दुःख न प्राप्त हो—यह भाव बना रहे, तो सेवा सहज ही हो जाती है, सेवा करनेका अभिमान नहीं होने पाता और फलेच्छा भी नहीं होती।

✿ सेव्यने सेवा करनेका अवसर दिया—यह सोचकर सेव्यके प्रति कृतज्ञ होकर उसकी सेवा की जाती है।

✿ सेवासे सेव्य और भगवान्—दोनों ही सेवकके वशमें हो जाते हैं।

✿ सेव्यको भगवान्‌का रूप मानकर ही सेव्यकी वास्तविक सेवा की जा सकती है।

✿ सेवा कर्तव्यवश करें, रागवश नहीं। (सेवा-कर्म, सेवा-कर्म-फल तथा सेव्य—तीनोंके प्रति रागका अभाव रहना चाहिये।)

✿ सेवा-कर्म सेवकके पुरुषार्थसे नहीं, भगवान्‌की कृपासे सम्पन्न होता है।

✿ दूसरोंकी सेवा करनेके लिये सभी अपने हैं। दूसरोंसे सेवा लेनेके लिये कोई भी अपना नहीं।

हरिनाम हृदै धरिए-धरिए

(श्रीरुद्रपालजी गुप्त 'सरस')

सद भाव भरे जिनके मन में, सुविचार सुसंग गहा करते।
अति कष्ट परे तन पै तबहूँ, फल कर्म का जानि सहा करते॥
अभिमान नहीं धन वैभव का, श्रमशील सुशील रहा करते।
कम ही मिलते जग में नर वे जिन्हें लोग महान कहा करते॥

सुख मानते हैं सुख देख कहीं, नहिं द्वेष की अग्नि दहा करते।
सुचिता जिनके निज जीवन में, सदा सत्य के साथ रहा करते॥
अपने अधिकार की बात नहीं, हित और के हानि सहा करते।
कम ही मिलते जग में नर वे, जिन्हें लोग महान् कहा करते॥

सुख और को देखि सुखी न भये, दुख और न के दुख पाया नहीं।
निज स्वार्थ पे ध्यान तो पूरा दिया, पर स्वार्थ कभी कर पाया नहीं॥
पढ़ते सद शास्त्र रहे नित ही, तदरूप सुकर्म बनाया नहीं।
फिर कौन कहे इस जीवन को, तुमने भरपूर नसाया नहीं॥

अभिमान किया निज वैभव का, सदभाव में शीश झुकाया नहीं।
नित ही बकवास करे रसना, रटना हरिनाम सिखाया नहीं॥
अपना-अपना कहते ही रहे, अपना उसको अपनाया नहीं।
फिर कौन कहे इस जीवन को, तुमने भरपूर नसाया नहीं॥

कहिए सियराम सदा शुभ जो, चुभती जो हिए सो नहीं कहिए।
रहिए वन में सुख जो मन में, नगरी न रुचै तो नहीं रहिए॥
भगिये विषयों से भले दुख हो, समुहे रिपु जो तो नहीं भगिए।
भ्रमिये सद्‌शास्त्र सुतीरथ में, परिमाया के जाल नहीं भ्रमिए॥

श्रुति नीति निबाहिए जीवन में, सत कर्म सदा करिए-करिए।
सुनि कोई पुकार दुखी जन की, सुख मानि व्यथा हरिए-हरिए॥
प्रभु का घर है मन पावन ये, दुरभाव नहीं भरिए-भरिए।
फिरि कै नर देह मिली न मिली, हरिनाम हृदै धरिए-धरिए॥

सेवा

(नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)

सेवा करना परम धर्म समझकर यथायोग्य तन-मन-धनसे सबकी सेवा करो, परंतु मनमें कभी इस अभिमानको न उत्पन्न होने दो कि मैंने किसीकी सेवा या उपकार किया है। उसे जो कुछ मिला है सो उसके भाग्यसे, उसके कर्मफलके रूपमें मिला है, तुम तो निमित्तमात्र हो। दूसरोंको सुख पहुँचानेमें निमित्त बनाये गये, इसको ईश्वरकी कृपा समझो और जिसने तुम्हारी सेवा स्वीकार की, उसके प्रति मनमें कृतज्ञ होओ।

× × ×

सेवा करके अहसान करना, सेवाके बदलेमें सेवा चाहना, अन्य किसी भी फल-कामनाकी पूर्ति चाहना तो प्रत्यक्ष ही सेवाधर्मसे च्युत होना है। मनमें इस इच्छाकी लहरको भी मत आने दो कि उसे मेरी की हुई सेवाका पता रहना चाहिये। सेवाके बदलेमें मान चाहना या बड़ाई और प्रतिष्ठाकी चाह करना तो मानके चाहकी चंचल लहर नहीं है, बहुत मोटी धारा है। यहाँ मनुष्य बहुधा भूल कर बैठता है। जब वह किसी व्यक्ति (किसी जीव) या समष्टि (देश-जाति)-की कुछ सेवा करता है, उस समय तो सम्भवत: सेवाके भावसे ही करता है, परंतु पीछेसे यदि सेवाके बदलेमें उसे कुछ भी नहीं मिलता अथवा उस मनुष्य या देशके द्वारा जिसकी उसने सेवा की थी, किसी दूसरेको सम्मान मिलता है तो उसे दु:ख-सा होता है, यह इसीलिये होता है कि उसने मन-ही-मन उनके द्वारा सम्मानित होनेको अपना स्वत्व या हक समझ लिया था। दूसरेके सम्मानमें उसे अपना हक छिनता-सा नजर आता है। वास्तवमें यह एक प्रकारसे सेवाका मूल्य घटाना है। अतएव यह कभी मत चाहो कि मुझे कोई पुरस्कार या सम्मान मिले, न दूसरोंको मान मिलता देखकर डाह करो। तुम तो अपना केवल सेवाका ही अधिकार समझो।

× × ×

कर्म या उसके फलमें आसक्त न होओ; न ममता करो और न विफलतामें विषाद करो। तुमने किसीकी सेवा की और वह तुम्हारा उपकार न माने तो उसपर नाराज मत होओ, बल्कि अपनी सेवाको भूल जाओ। याद ही रहे तो पता लगाओ, कहीं उसमें दोष रहा होगा। सेवा करके तुमने गिनाया होगा, उसपर अहसान किया होगा, कुछ बदला चाहा होगा। जिस व्यक्ति या देशकी सेवा करते हो, उसका वह काम हो जानेपर उसमें अपना कोई अधिकार मत समझो। उस हालतमें अपनेको बहुत ही भाग्यवान् समझो जब कि तुम्हारी सेवाका बदला देनेके लिये तुम्हारे सामने होते हुए भी तुम्हें कोई खोजकर न निकाल सके और वह बदला दूसरेको मिल जाय और तुम उसमें मदद करो।

× × ×

सेवा या सत्कार्यके बदलेमें मरनेके बाद भी कीर्ति न चाहो। तुम्हें लोग भूल जायँ इसीमें अपना कल्याण समझो। काम अच्छा तुम करो, कीर्ति दूसरेको लेने दो। बुरा काम भूलकर भी न करो, परंतु तुमपर उसका आरोप लगाकर दूसरा उससे मुक्त होता हो तो उसे सिर चढ़ा लो। तुम्हारा कुछ नहीं बिगड़ेगा। तुम्हारा वह सुखदायी मनचाहा अपमान तुम्हारे लिये मुक्तिका और आत्यन्तिक सुखका दरवाजा खोल देगा।

× × ×

सेवा करके नेता, गुरु, अध्यक्ष, संचालक, पथप्रदर्शक, राजा, शासक और सम्मान्य बननेकी कभी मनमें भावना ही मत आने दो; जो पहलेसे ही सम्मान और ऊँचा पद प्राप्त करनेके लिये किसीकी सेवा करना चाहते हैं, वे यथार्थ सेवा नहीं कर पाते। उनकी अपने साथियोंसे प्रतिद्वन्द्विता हो जाती है और सेवा करनेकी शक्ति प्रतिद्वन्द्वीको परास्त करनेमें खर्च होने लगती है। राग-द्वेष तो बढ़ता ही है। सेवा करने पर मनचाही चीज नहीं

मिलती, तब दुःख होता है। इसके सिवा एक बात यह है कि जो ऊँचा बननेके उद्देश्यसे ही नीचा बनकर कार्य करता है, वह वास्तवमें नीचा बननेका, आज्ञा मानने या सेवा करनेका बहाना ही करता है, वह तो वास्तवमें दूसरोंको नीचा, आज्ञाकारी और सेवक बनानेकी नीयत रखता है। जिसकी नीयत ही ऐसी है, वह सेवा क्या कर सकता है? अतएव सदा सबके सेवक बननेकी ही अभिलाषा रखो, स्वामी बननेकी नहीं। कोई ऊँचा बनाये तो उसे स्वीकार न करो। खयाल रहे, बहुधा ऊँचे मानका अस्वीकार भी बड़ाईके लिये ही किया जाता है। बड़ाईके मोहमें भी मत फँसो। मान-बड़ाईका त्याग करो और फिर इस त्यागकी स्मृतिका भी त्याग कर दो।

× × ×

तुम्हारे द्वारा किसीकी कुछ भलाई हो जाय तो यह मत समझो कि यह भलाई मैंने की है। उसकी भलाई भगवान्ने की है और उसमें उसका अपना पूर्वकृत कर्म कारण है। तुम्हारी दृष्टि बहुत दूरतक नहीं जा सकती। सम्भव है तुम जिसमें किसीकी भलाई समझते हो, उससे परिणाममें उसका अहित हो जाय। तुम्हारी बुद्धि परिमित है, तुम्हारा विचार सर्वथा निर्भ्रान्त नहीं है। सद्विचारके लिये परमात्मासे प्रार्थना करो और परमात्माकी सत्ता, स्फूर्ति और प्रेरणा समझकर ही किसीके उपकारका कार्य करो। याद रखो, तुम्हारी बाह्य चेष्टाओंकी अपेक्षा ईश्वरप्रार्थनासे बहुत अधिक और निश्चित फल होगा। तुम्हारी चेष्टा तो तुम्हारी अदूरदर्शिताके कारण विपरीत फल भी उत्पन्न कर सकती है, परंतु भगवान्की प्रार्थनासे तो विपरीत फल होता ही नहीं।

× × ×

सेवा करनेके अभिमानमें ईश्वरकी भूल मिटानेका दम मत भरो। बहुत-से लोग ईश्वरके किये हुए विधानको पलटनेकी व्यर्थ कोशिश करके ईश्वरको निर्दयी, अशक्त या असत् सिद्ध करना चाहते हैं और अपने बलकी स्थापना करना चाहते हैं, यह उनकी बड़ी भूल है। ईश्वरके प्रत्येक विधानको न्याय और दयासे युक्त समझो। ईश्वर किसीको व्यर्थ कष्ट नहीं देता, वह जीवके कर्मका फल ही उसे सुख-दुःखके रूपमें भुगताता है और उसमें भी उसकी दया रहती है। उसके विधानको मिटानेकी चेष्टा न करो। हाँ, कष्टमें पड़े हुए प्राणीका कष्ट दूर करनेकी चेष्टा अवश्य करो। इससे ईश्वर तुमपर वैसे ही प्रसन्न होगा, जैसे स्नेहमयी माता अपने बच्चेको स्वयं दण्ड देती है और उसके रोने लगनेपर उसका रोना बन्द कराके खुशीसे हँसा देनेवालेपर बड़ी प्रसन्न होती है।

× × ×

ईश्वरको दयालु और सर्वशक्तिमान् समझो और उसके अस्तित्वमें कभी सन्देह न करो। जगत्का अस्तित्व ही उसके अस्तित्वको सिद्ध करता है। जगत्को स्वीकार करना और भगवान्को अस्वीकार करना वैसा ही है जैसा सोनेके गहनेको स्वीकार करते हुए सोनेको अस्वीकार करना।

× × ×

सर्वत्र सर्वदा ईश्वरकी सत्ता देखकर जगत्का व्यवहार करो, प्रत्येक सृजन और संहारमें उसके मंगलमय हाथोंके दर्शन करो। प्रत्येक रुदन और गायनमें उसके मधुर कण्ठस्वरका अनुभव करो, प्रत्येक दुःख और सुखमें उसके कोमल शरीरका स्पर्श करो, प्रत्येक रूपान्तर और कालान्तरमें उसके मुसकराते हुए मुखड़ेको देखो, प्रत्येक गति और चंचलतामें उसके अरुण चरणोंकी नूपुर-ध्वनि सुनो और प्रत्येक प्रवाहमें उसकी स्थिरा अचला प्रकाशमयी नित्या सनातनी सच्चिदानन्दमयी सर्वव्यापिनी रसमयी मूर्तिकी पूजा करो। तुम धन्य हो जाओगे।

राईके दाने जब बँधी पोटलीसे नीचे छितरा जाते हैं, तब उनका इकट्ठा करना कठिन होता है, उसी प्रकार जब मनुष्यका मन संसारकी अनेक प्रकारकी बातोंमें दौड़ता फिरता है, तब उसको रोककर एक ओर लगाना सरल बात नहीं है।—श्रीरामकृष्ण परमहंस

सेव्य, सेवा और सेवकका अन्तस्सम्बन्ध

(डॉ० श्रीनरेन्द्रनाथजी ठाकुर, एम० ए० (संस्कृत, हिन्दी), एम० एड०, पी-एच० डी०)

'**सेव्य**' शब्द विशेषण पद है। '**सेव्**' धातुमें '**ण्यत्**' प्रत्ययके योगसे '**सेव्य**' शब्द बना है, जिसका अर्थ है—सेवा किये जानेयोग्य, टहल किये जानेयोग्य, उपयोगमें लानेके योग्य, काममें लानेयोग्य, स्वामी आदि।

'**सेवा**' शब्द '**सेव्**' धातुमें '**आङ्**' एवं '**टाप्**' प्रत्यय लगाकर निष्पन्न हुआ है, जिसका अर्थ है—परिचर्या, खिदमत, दासता, टहल, पूजा, सम्मान, संलग्नता, भक्ति आदि। सेवा एक व्यापक शब्द है जो अपनेमें व्यापक अर्थ छिपाये हुए हैं। पाणिनिके धातुपाठमें—'**षेवृ सेवने**' सेवा करने, चाकरी करने आदि अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। न केवल '**सेव्**' धातु अपितु '**भज्**' धातु भी सेवाके अर्थमें प्रयोग किया जाता है—'**भज् सेवायाम्**'।

सर्वलक्षणसंग्रह नामक ग्रन्थमें सेवा शब्दकी परिभाषा इस प्रकार दी गयी है—'**परार्थक्रिया**' '**सर्वभावेना-चार्यानुकूलकारित्वम्**'।

'**स्व**' अथवा '**स्वत्व**' का समर्पण ही सेवा है। '**सेवक**' शब्द विशेषण पद है एवं '**सेव्**' धातुमें '**ण्वुल**' प्रत्ययके योगसे सिद्ध हुआ है। सेवकका अर्थ है—सेवा करनेवाला, पूजा करनेवाला, अनुगामी, आश्रित, दास, भक्त, पूजक आदि।

सनातन शास्त्रोंमें भक्ति और सेवा शब्द अन्योन्याश्रित हैं। दोनोंका अविनाभाव सम्बन्ध है। अर्थात् भक्तिके बिना सेवा और सेवा शब्दके बिना भक्ति शब्दकी समुचित व्याख्या नहीं की जा सकती। सम्पूर्ण नारदभक्तिसूत्र एवं शाण्डिल्यभक्तिसूत्र इसी सेवा और भक्तिका उपजीव्य ग्रन्थ है। सेवा शब्द एक प्रकारसे भक्तिका पर्याय है। जिसपर हमारी भक्ति होती है, हम उसकी सेवा करना चाहते हैं और हम उसीकी सेवा करना चाहते हैं, जिसके प्रति हमारी भक्ति दृढ़ होती है। ईश्वर-सेवासे लेकर मानवसेवातक सेवा एक ही है। स्वामी विवेकानन्दका मानना है कि मानवको ईश्वरका प्रतिरूप समझकर भी हम उसकी सेवा कर सकते हैं अर्थात् जीवसेवा ही शिवसेवा है।

भक्तिमार्गमें नवधा भक्तिकी परिचर्या है। नवधा भक्ति कहीं-न-कहीं सेवासे जुड़ी है। देवर्षि नारद जो भक्तिके दस आचार्योंमें अन्यतम हैं, उन्होंने नारदभक्तिसूत्रमें अपनी प्रत्येक चेष्टाओं, अपनी प्रत्येक वृत्तियों, अपने प्रत्येक व्यापारों एवं प्रत्येक कर्मोंको भगवान्‌को अर्पित कर देना ही भक्ति माना है—'**नारदस्तु तदर्पिताखिलाचारता तद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति।**' (ना०भ०सू० १९)

भगवान्‌के विस्मरणमें परम व्याकुलताका होना ही भक्ति है। हमारे भीतर जार स्त्रियोंके समान भक्ति न हो—'**तद्विहीनं जाराणामिव।**' (ना०भ०सू० २३)।

जारभक्तिसे श्रेष्ठ भक्ति व्रजगोपिकाओंकी भक्ति मानी जाती है; क्योंकि जारके लिये व्यभिचारका दोष आ जाता है, किंतु कृष्णरसपिपासु गोपियाँ जब अनन्यभावसे एकरस, एकनिष्ठ भावसे श्रीकृष्णमें अपनी अनन्यता रखती हैं तो वह भक्ति सामान्य जीवोंके लिये दुर्लभ मानी जाती है—'**यथा व्रजगोपिकानाम्**' (ना०भ०सू० २१)।

भगवान्‌के अधरामृतपर बसी वंशी अधरामृतका पानकर भी अतृप्त बनी रही। शायद वह रुद्ररूप वंशी अपनी अतृप्तताको दिखा रही है कि कहीं वह उस अमृतसे वंचित न हो जाय। वंशी भी सेवा कर रही है, गोपिकाएँ भी सेवा कर रही हैं। भक्तिके बिना सेवा और सेवाके बिना भक्ति नहीं की जा सकती। दोनोंमें अनन्यता अपेक्षित है।

मानवसेवा ही राष्ट्रसेवा है। स्वामी विवेकानन्दने इस बातपर जोर दिया है कि जबतक हम व्यष्टिकी सेवा नहीं करेंगे, तबतक समष्टि-सेवा नहीं की जा सकती। समष्टि व्यष्टिका ही सामूहिक रूप है।

सेवा एक-एक व्यक्तिकी होनी चाहिये, तभी हम राष्ट्रकी सेवा कर सकेंगे। भगवान् समष्टि भी हैं और व्यष्टि भी। वे एक भी हैं और अनेक भी।

सूरदासजीने वात्सल्यभक्तिके द्वारा, तुलसीदासजीने दास्यभक्तिके द्वारा और सती अनसूयाने पतिसेवाद्वारा ईश्वरकी आराधना की।

आकाशात्पतितं तोयं यथा गच्छति सागरम्।
सर्वदेवनमस्कारः केशवं प्रति गच्छति॥

जैसे आकाशसे गिरी हुई जलकी एक-एक कणिका समुद्रमें जाकर मिलती है, वैसे ही प्रत्येक देव-देवियोंको किया गया प्रणाम परब्रह्म परमात्माको प्राप्त होता है। व्यष्टि अन्तमें समष्टिमें मिलता है। हम सब जीव परमात्माके व्यष्टिरूप हैं और वे हमारे समष्टिरूप हैं।

सेव्य, सेवा और सेवकका अन्तस्सम्बन्ध सर्वजनसंवेद्य है। साध्य, साधन एवं साधक; भक्त, भक्ति एवं भगवान्‌का अन्तस्सम्बन्ध भी सेव्य, सेवा और सेवक-जैसा है। जैसे प्रमाता प्रमाणके माध्यमसे प्रमेयको प्राप्त करता है, उपमाता उपमानके द्वारा उपमेयका ज्ञान करता है, अनुमाता अनुमानके जरिये अनुमेयका अवबोध करता है, ठीक उसी प्रकार सेवक सेवाके माध्यमसे सेव्यको प्राप्त करता है। सेवा अथवा भक्तिका लक्षण बतलाते हुए भगवान्‌ने स्वयं अपने मुखारविन्दसे कहा है—

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा॥
भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप॥

(श्रीमद्भगवद्गीता ११।५३-५४)

अर्थात् हे अर्जुन! जिस प्रकार तुमने मुझको देखा है। इस प्रकार चतुर्भुजरूपवाला मैं न वेदोंसे, न तपसे, न दानसे और न यज्ञसे ही देखा जा सकता हूँ, परंतु अनन्य भक्तिके द्वारा इस प्रकार चतुर्भुजवाला मैं प्रत्यक्ष देखनेके लिये, तत्त्वसे जाननेके लिये तथा प्रवेश करनेके लिये अर्थात् एकीभावसे प्राप्त होनेके लिये भी शक्य हूँ। भक्ति कैसी हो? इसके उत्तरमें नारदभक्तिसूत्र (२-३)-में कहा गया है—**'सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा।' 'अमृतस्वरूपा च'।**

भक्ति आसक्ति, इच्छा अथवा कामनासे युक्त न हो। भक्ति इन सबोंसे रहित है—

'सा न कामयमाना निरोधरूपत्वात्'

(ना०भ०सू० ८)

यहाँ भगवान्‌ने सेवा अर्थात् भक्तिकी महिमा बतायी है। सेवक अथवा भक्तका लक्षण बतलाते हुए प्रभु कहते हैं—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहङ्कारः समदुःखसुखः क्षमी॥
सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥

(श्रीमद्भगवद्गीता १२।१३-१४)

अर्थात् जो पुरुष सब भूतोंमें द्वेषभावसे रहित, स्वार्थरहित, सबका प्रेमी और हेतुरहित दयालु है तथा ममतासे रहित, अहंकारसे रहित, सुख-दुःखोंकी प्राप्तिमें सम एवं क्षमावान् है अर्थात् अपराध करनेवालोंको भी अभय देनेवाला है तथा जो योगी निरन्तर सन्तुष्ट है, मन-इन्द्रियोंसहित शरीरको वशमें किये हुए है और मुझमें दृढ़ निश्चयवाला है—वह मुझमें अर्पण किये हुए मन, बुद्धिवाला मेरा भक्त मुझको प्रिय है।

सेवा एवं सेवकका अर्थात् भक्ति एवं भक्तका लक्षण करनेके बाद अब सेव्य (भगवान्)-का लक्षण करते हुए भगवान् पतंजलिने कहा है—

'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः।' (योगदर्शन १।२४)

अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेशादि पंच क्लेशों, शुभ, अशुभ और शुभाशुभमिश्रित कर्मों, कर्मोंके फल और वासनाओंसे असम्बद्ध अन्य पुरुषोंसे विशेष, वह चेतन ईश्वर है।

सेव्य, सेवा और सेवकके अन्तस्सम्बन्धमें सेव्य (भगवान्), सेवा (भक्ति) एवं सेवक (भक्त)-में अन्ततः सेवाका लोप हो जाता है। सेव्य एवं सेवक ही अवशिष्ट रहता है तथा अन्तमें केवल सेव्य पद ही अवशिष्ट रहता है। इस बातको प्रमाणित करते हुए पंचदशीकारने कहा है—

ध्याता ध्याने परित्यज्य क्रमाद् ध्येयैकगोचरम्।
निर्वातदीपवच्चित्तं समाधिरभिधीयते॥

(पंच० १।५५)

अर्थात् ध्याता (सेवक) और ध्यान (सेवा)-को छोड़कर ध्येय (सेव्य) अवशिष्ट रह जाता है तो यह अवस्था समाधिकी अवस्था कहलाती है। इन तीनोंका अन्तस्सम्बन्ध ही एकत्वको प्रकट करता है।

सेवा—प्रश्नोत्तर

(ब्रह्मलीन श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

प्रश्न—सेवाका मूल क्या है?

उत्तर—किसीको भी दुःख न पहुँचाना, किसीका भी अहित न करना।

प्रश्न—देशकी सेवा बड़ी है या माता-पिताकी सेवा?

उत्तर—माता-पिताकी सेवा एक नम्बरमें है और देशकी सेवा दो नम्बरमें। कारण कि हमें माता-पिताने शरीर दिया है, उसका पालन-पोषण किया है, पढ़ा-लिखाकर योग्य बनाया है, इसलिये उनका हमारेपर ऋण है। पहले ऋण चुकाना चाहिये, फिर देशसेवा, दान आदि करना चाहिये। ऋण चुकाये बिना दान आदि करनेका अधिकार ही नहीं है।

प्रश्न—जैसे हमें जो कुछ मिलता है, वह प्रारब्धके अधीन होता है, ऐसे ही दूसरे व्यक्तिको भी जो कुछ मिलेगा, वह भी प्रारब्धके अधीन होगा, फिर हम दूसरेकी सेवा क्यों करें?

उत्तर—यह बात ठीक है कि दूसरे व्यक्तिको वही मिलेगा, जो उसके प्रारब्धमें होगा। परंतु हमें उसकी तरफ न देखकर अपने कर्तव्यका पालन करना है। कर्तव्यका विभाग अलग है। कर्तव्यका त्याग करनेसे दोष लगता है। अतः हमें अपने कर्तव्यका पालन (सेवा) कर देना है, चाहे उसको प्रारब्धके अनुसार मिले या न मिले। बालक बीमार होता है और माता उसकी बीमारी ठीक नहीं कर सकती तो क्या वह उसकी सेवा करना छोड़ देती है? ऐसे ही जो सज्जन पुरुष होते हैं, वे माँकी तरह कृपापूर्वक अपने कर्तव्यका पालन करते हैं। इससे कर्तव्यपरायणता, हितैषिता और दयालुता पैदा होती है, जो दैवी-सम्पत्तिका गुण है। दैवी-सम्पत्ति मुक्तिके लिये होती है—'**दैवी सम्पद्विमोक्षाय**' (गीता १६।५)।

प्रश्न—दूसरेपर प्रतिकूल परिस्थिति आयी है तो वह भगवान्के विधानसे आयी है। अतः उसकी सहायता या सेवा करना क्या भगवान्के विधानसे विरुद्ध कार्य करना नहीं है?

उत्तर—भगवान् पिताके समान हैं और भक्त माताके समान। अतः भगवान्में 'न्याय' मुख्य है और भक्तोंमें 'दया' मुख्य है, जबकि यह दया भी भगवान्से ही आयी है। अतः हमारा कर्तव्य उसकी सेवा करना है। जो दूसरेके दुःखसे दुखी नहीं होता, वह स्वार्थी और अभिमानी होता है। उसका अन्तःकरण कठोर होता है। वह सात्त्विक न होकर राजसी-तामसी होता है।

एक बार चमारोंकी बस्तीमें आग लग गयी और उनके घर जलकर नष्ट हो गये। सेठजी (श्रीजयदयालजी गोयन्दका)-ने उनके नये घर बनवा दिये। दुबारा आग लग गयी और वे घर पुनः नष्ट हो गये। सेठजीने पुनः घर बनानेके लिये कहा। लोगोंने कहा कि दुबारा आग लगनेसे मालूम होता है कि भगवान्की मरजी नहीं है, वे घर जलाना चाहते हैं। सेठजीने उत्तर दिया कि भगवान्का काम जलानेका है और हमारा काम बनानेका है। सेठजीने पुनः उनके घर बनवाये।

प्रश्न—सेवाधर्मको कठोर क्यों कहा गया है—*'सब तें सेवक धरमु कठोरा'* (रा०च०मा० २।२०३।४)?

उत्तर—सुख-आराममें आसक्ति होनेसे ही सेवा कठिन दीखती है—***'सेवक सुख चह मान भिखारी'*** (मानस, अरण्य० १७।८)। अपने सुख-आरामका त्याग करें तो सेवा कठिन नहीं है; क्योंकि सेवा करनेकी सब सामग्री संसारकी ही है, अपनी नहीं। उस सामग्रीको अपने सुखमें लगानेसे सेवा नहीं होती।

प्रश्न—दुखीको देखकर करुणित होना उसकी सेवा है, कैसे?

उत्तर—करुणित होनेसे भगवान् उसपर कृपा करते हैं और अपना अन्तःकरण भी निर्मल होता है। सुखीको देखकर प्रसन्न होना भी सेवा है, जिससे अपना अन्तःकरण शुद्ध होता है। दूसरेके सुख-दुःखका असर न पड़नेसे अन्तःकरण अशुद्ध एवं कठोर होता है।

प्रश्न—जड़को जड़की सेवामें लगा देनेसे जड़का प्रवाह जड़की ओर हो जायगा और चेतन असंग होकर मुक्त हो जायगा—यह कर्मयोगकी बात समझमें नहीं आयी; क्योंकि वास्तवमें जड़की सेवा नहीं होती, प्रत्युत चेतनकी सेवा होती है। जैसे, सचेतन शरीरके मुखमें अन्न-जल डालनेसे उसकी सेवा होती है, पर अचेतन मुर्देके मुखमें अन्न-जल डालनेसे उसकी सेवा नहीं होती!

उत्तर—वास्तवमें सेवा जड़के द्वारा ही होती है और जड़तक ही पहुँचती है। कारण कि क्रिया और उसका फल (पदार्थ)—दोनों ही आदि-अन्तवाले होनेसे जड़में ही रहते हैं, चेतनतक पहुँचते ही नहीं। परंतु चेतनने शरीर (जड़)-से तादात्म्य किया है, उससे अपना सम्बन्ध माना है, इसलिये शरीरकी सेवा चेतन (शरीरके मालिक)-की मानी जाती है। ज्ञानयोगमें भी जड़ मन-बुद्धिके द्वारा ही जड़का त्याग किया जाता है—'**गुणाः गुणेषु वर्तन्ते**' (गीता ३। २८)।

प्रश्न—धनादि पदार्थोंसे लेकर बुद्धिपर्यन्त सब जड़ पदार्थ सेवाके करण (साधन) हैं। इन करणोंसे सेवा करनेवाला चेतन ही हो सकता है, जड़ कैसे होगा ?

उत्तर—जिसने शरीरसे अपना सम्बन्ध माना है, वही कर्ता होता है—'**अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते**' (गीता ३। २७)। तात्पर्य है कि अहंकारविमूढ़ात्मा ही कर्ता होता है, वही सेवा करता है।

प्रश्न—सेवक सेवा होकर सेव्यमें लीन हो जाता है—इसमें 'सेवा' होना क्या है ?

उत्तर—सेवाका अभिमान अर्थात् सेवकपना न रहना ही 'सेवा' होना है।

प्रश्न—सेवा करनेपर अभिमान न आये, इसका क्या उपाय है ?

उत्तर—किसीकी भी सेवा करें, चाहे कुत्ते और गधेकी ही क्यों न करें, उसको अपनेसे ऊँचा मानकर, भगवान् मानकर सेवा करें। फिर अभिमान नहीं आयेगा।

निःस्वार्थ सेवा—सर्वोत्कृष्ट उपासना

(प्रो० श्रीराधेमोहनप्रसादजी)

जीवन न तो जन्मसे शुरू होता है और न ही मृत्युपर समाप्त हो जाता है। भगवान् श्रीकृष्णने जन्मको अव्यक्तका व्यक्त होना और मृत्युको व्यक्तका अव्यक्त होना कहा है। आत्मा अतीन्द्रिय है, इसलिये सामान्य संसारी व्यक्ति प्रत्यक्षको प्रमाण मानता है और शरीरके अस्तित्वतक ही जीवनको मानता है। सनातन वैदिक धर्मकी मान्यताके अनुसार जन्म-मृत्यु जीवनयात्राके पड़ाव हैं। जीवात्माके जीवनमें जन्म-मृत्युका यह चक्र तबतक चलता रहता है, जबतक वह अपनी आखिरी मंजिलपर नहीं पहुँच जाता। यह आखिरी पड़ाव ही आत्मसाक्षात्कार है, भगवान्की प्राप्ति है। इस उपलब्धिके बाद सारी यात्रा सिमट जाती है। इसके बाद कोई कर्तव्य शेष नहीं रह जाता। धर्मग्रन्थोंमें चौरासी लाख योनियोंकी बात कही गयी है, जिसमें जाकर जीवात्मा अपने कर्मोंके फलको भोगती है। मनुष्ययोनिका जगह-जगह गुणगान किया जाता है, जिसका कारण है इसका भोगयोनि होनेके साथ ही कर्मयोनि भी होना। मनुष्यको कर्मकी स्वतन्त्रता है, इसलिये धर्मग्रन्थोंकी रचना मनुष्यके लिये की गयी। धर्म, अर्थ और काम—ये तीन उपलब्धियाँ हैं मनुष्यजीवनकी, जबकि मोक्ष परम उपलब्धि है। धर्मग्रन्थोंमें कहा गया है कि यदि मोक्षकी उपलब्धि नहीं हुई तो फिर इन तीनोंकी कोई सार्थकता नहीं है। मनुष्यजीवन अनमोल है, जो बहुत ही मुश्किलसे मिलता है। अतः जहाँतक हो सके इसमें दूसरोंकी सेवा करना चाहिये। जो लोग दूसरोंकी सेवा करते हैं और जहाँतक सम्भव होता है, उनकी भलाईके लिये कुछ करते भी हैं। ऐसा करके वे दूसरोंका कष्ट वहन करने और कष्टसे मुक्त होनेमें सहायक ही नहीं होते अपितु इस विधिसे वे अपने शरीर और मनको भी स्वस्थ रखते हैं। सेवा करना एक ऐसी औषधि है, जो लेने और देनेवाले दोनोंको ही लाभ

पहुँचाती है। यदि हम दूसरोंके लिये सेवाकार्यमें अपनेको भूल जायँ तो हमारे रोग अपने-आप जानेकी ओर अग्रसर होते हैं। दूसरोंकी भलाईसे सन्तोष प्राप्त होता है। वह हमारी कल्पनाको स्वस्थ बनाता है और 'स्वस्थ कल्पना' कल्पना करनेवालेको भी स्वस्थ एवं प्रसन्नचित्त ही रखती है।

यद्यपि वर्तमान समयका मानवजीवन अनेकानेक कार्योंको करनेकी होड़में अव्यवस्थित तथा तनावयुक्त हो गया है। इससे हमारी जीवनशैलीसे शान्ति तथा आनन्द बहुत दूर हो गया है और हम सभी यान्त्रिक जीवन जीनेके अभ्यस्त हो गये हैं, फिर भी भलाई करनेका आनन्द मनको उत्साहित अवस्थामें रखता है। यह उत्साह सारे अवसादोंको दूरकर हमारे शरीरको जीवन्त बनाये रखता है। सेवारत व्यक्तिका चेहरा खुशीसे दमकता रहता है। उसकी मुखमुद्रा उसके आत्मविश्वास और उसकी उच्चताको प्रकट करती है। स्वार्थी और खुदगर्ज व्यक्तिका चेहरा उतरा और दबा हुआ रहता है, चेहरेपर मनकी मलिनता स्पष्ट रहती है। हम वास्तविक रूपसे तभी सुखी रह सकते हैं, जब परिवार, पड़ोसी और समाज सुखी रहेगा। सुख-दुःख अस्थायी एवं अनुभवजन्य हैं, इनका सम्बन्ध हमारे शरीरसे है, आत्मासे नहीं। यह मानव प्रकृति है कि हर कोई सुख चाहता है। सुखकी परिभाषा भी प्रत्येक व्यक्तिकी अपनी और अलग-अलग तरहकी है। कोई धनको सुखका आधार मानता है तो कोई यश, कीर्ति, भौतिक संसाधन और ऐश्वर्यपूर्ण जीवनशैलीको। जो इनसे वंचित हैं, वे दुःखका अनुभव करते हैं। वास्तविकता तो यह है कि मानवजीवनमें शाश्वत सुख अपने अतिरिक्त दूसरोंको सुखी देखनेमें है। केवल अपने या अपने परिवारके सुखकी कामना कटुता और क्लेशका ही निर्माण करती है। यह मानवता भी नहीं है। अभावोंसे उपजा दुःख कभी स्थायी नहीं होता। अभाव हमेशा नहीं रहते। अतः उसका दुःख भी अस्थायी ही है। हमें शाश्वत सुखकी इच्छा रखनी चाहिये। इसके लिये जरूरी है कि हम पहले तो अपनेको ही पहचानें। शरीर और आत्माके अन्तरको जानें और इस बातको अपने भीतर स्थापित करें कि इस नश्वर कायाके सुखके लिये हम किसी दूसरेको दुःख न पहुँचायें। हम भगवान्के उन दिव्यांशोंकी भी सेवामें समय और सामर्थ्यको लगायें, जिन प्रभुके अंश हम भी हैं। प्रभुने यदि कृपा करके हमें कोई विशिष्टता या सम्पन्नता दी है तो उसका उपयोग अपनेतक सीमित न करके दूसरोंकी सेवामें करें। आत्मीयता, भाईचारा, प्रेम, मोह, सद्भाव तथा परोपकार—ये ही वे सद्‌गुण हैं, जो असीम सुख देनेवाले हैं। ये मानवजीवनको सार्थक बनाते हैं। इन्हीं गुणोंमें शाश्वत सुखका रहस्य छिपा है। समाजमें ऐसे बहुत सारे लोग हैं, जिन्हें हमारी मदद और सेवाकी जरूरत है। हमारे द्वारा की जानेवाली सेवा भी इस तरहकी होनी चाहिये, जिससे कि मनमें अभिमान या अहंकारका भाव न आने पाये। सेवा करनेके समान और कोई पूजा नहीं। यदि भगवान्को प्रसन्न करना है तो जीवमात्रकी सेवा किसी-न-किसी रूपमें करनी ही चाहिये। अनाथ और उन असहायोंकी सेवा करनी चाहिये, जिनको कोई सहारा देनेवाला नहीं है। अन्धे और अपाहिजकी सेवा करनी चाहिये, जो अपनी जगहसे आगे चल नहीं सकते, उठ भी नहीं सकते। दुखी जानवरोंकी भी सेवा करनी चाहिये; क्योंकि जिसकी हम सेवा करना चाहते हैं, वह उसमें भी बैठा है। ऐसे जीवोंकी भी सेवा करनी चाहिये, जो हमें जानते नहीं, हमें दुआ भी नहीं दे सकते, पर हमारी सेवा अवश्य स्वीकार होगी। हमें उनकी भी सेवा करनी चाहिये, जिनका ध्यान भी हमारी सेवाकी ओर नहीं है, पर निश्चय ही जानें कि उनकी आड़में भगवान् हमें अवश्य देख रहे हैं। कुछ सेवा शरीरसे होती है, कुछ मनसे होती है और कुछ धनसे होती है। जिसको जैसी सेवाकी आवश्यकता हो, हमें वही करना चाहिये; क्योंकि तन, मन और धन—ये तीनों भी तो भगवान्ने ही दिये हैं। लोगोंकी शुभाकांक्षा और आशीर्वाद रोगोंको दूर करनेके लिये रसायनका काम करते हैं, जिसे लोगोंकी सेवा करके ही प्राप्त किया जा सकता है। बहुत रुपये लगा देनेपर भी वह पुण्य लाभ नहीं कमाया जा सकता, जो

निष्काम भावद्वारा सेवा करके अर्जित किया जा सकता है। शरीरसे परिश्रम करके धन तो कमाया जा सकता है, परंतु धनके माध्यमसे शरीर नहीं लिया जा सकता। सफलताके लिये आत्मबलको विकसित करना जरूरी है। यह काम सेवाकी राहपर चलनेसे ही होगा। जीवनमें उद्देश्य रखकर उसे पूर्ण मनोयोगसे प्राप्त करनेके लिये प्रयास करना सही है। यदि उद्देश्य सही है और उस ओर परिश्रम भी पूरा है तो पूर्वमें पायी गयी असफलता ही अन्ततः सफलताके द्वार खोलेगी। भगवान्ने हमें मनुष्यजीवन इसीलिये प्रदान किया है कि हम जीवनके मार्गको साफ-सुथरा रखते हुए आगे बढ़ें, दूसरोंके कष्टको भी अपना मानकर उसके निवारणमें सहायक बनें। जीवन एक दुर्लभ अवसर है, सेवाके रास्तेपर चलकर उसे सार्थक करना चाहिये।

परहित सरिस धर्म नहिं भाई

(श्रीसुरेन्द्रकुमारजी 'शिष्य' एम० ए०, एम० एड०, साहित्यरत्न)

एक क्षणके लिये महर्षि दधीचि स्तब्ध रह गये, देवोंने उनके समक्ष विकट माँग जो पेश की थी। भला अबतक किसीने कभी अपनी अस्थियोंका दान भी किया है? अस्थिदानकी कल्पना ही मानवकी नस-नसको कँपा देनेवाली है। अपनी अस्थियाँ भी भला रुपये, पैसे, वस्त्र, अन्न, हाथी, घोड़े, गौ-सदृश वस्तु हैं क्या, जिन्हें कोई दानवीर हाथ ऊँचा करके याचकको सहर्ष दान कर दे? यह तो साक्षात् मृत्युका आवाहन है। मौतकी कल्पनामात्रसे ही कौन जीवधारी भयभीत नहीं हो जाता?

दूसरे ही क्षण एक उदात्त भावनासे महर्षिका हृदय देदीप्यमान हो रहा था। मेरी अस्थियोंसे देवोंकी सुरक्षा सम्पन्न हो, इससे बढ़कर भी इन अस्थियोंका कोई उपयोग हो सकता है क्या? सामान्यरूपसे मरनेपर जिन अस्थियोंको कोई छूना भी पसन्द न करेगा, वही घृणित अस्थियाँ देवराजके करकमलमें सदा सुशोभित रहेंगी। मेरी इन अस्थियोंसे देवकल्याण होता रहेगा। मैं मरकर भी देवसमाजका हित-साधन कर सकूँगा। मैं जीवित न रहूँगा, न सही, पर मेरी अस्थियाँ तो समाजमें सुव्यवस्थाकी स्थापनामें सहायक होती रहेंगी। स्वार्थ-साधन न सही, परमार्थ-साधन तो होगा। अस्तु, भले ही मौत जन-जनको भयभीत करनेवाली हो, पर मैं तो परोपकारके लिये मृत्युका वरण करनेको सहर्ष प्रस्तुत हूँ।

यह उदात्त भावना कौन-सी थी, जिसने दधीचिके हृदयसे प्राणोंका मोह दूर किया? जिसने उन्हें प्राणोंका बलिदान करनेकी प्रेरणा दी। जिसने उन्हें सामान्य मानवकी कोटिसे उठाकर महामानवके उच्चासनपर सुशोभित कर दिया। जिसने उन्हें स्वार्थकी संकीर्ण परिधिसे निकालकर परमार्थकी ओर अग्रसर किया? क्या यही धर्मका वास्तविक स्वरूप है? क्या यही मानवमात्रका परम धर्म है? क्या यह भावना आज दिग्भ्रमित विश्वको कोई दिव्य सन्देश सुना सकती है? प्रश्न विचारणीय है। इसके निराकरण-हेतु हमें धर्मके शुद्ध स्वरूपको समझना होगा।

वैसे तो धर्मकी गति गहन है। विविध मत, सम्प्रदाय, पन्थादिके झमेलेमें सर्वमान्य धार्मिक सिद्धान्तका निरूपण दुरूह हो जाता है। अवश्य ही सभी धर्मोंका चरम लक्ष्य एक ही है। किंतु जहाँ उस लक्ष्यतक पहुँचनेवाले मार्गोंका प्रश्न आता है, वहाँ इतनी विभिन्नता देखी जाती है कि सामान्य नागरिक धार्मिक वितण्डावादोंकी भूलभुलैयामें दिग्भ्रमित हो जाता है।

इस दशामें इस वैज्ञानिक युगमें एक सर्वमान्य धार्मिक सिद्धान्तकी आवश्यकता ज्वलन्त प्रश्न बनकर खड़ी होती है, जो न केवल सभी धर्म, सम्प्रदाय, मत-मतान्तरके अनुयायियोंको निर्विरोध रूपसे मान्य हो, वरं साथ ही वैज्ञानिक कसौटीपर भी खरा उतरनेसे विचारशील व्यक्तियोंको तर्कसंगत प्रतीत हो एवं युगानुरूप जीवनदर्शनके अनुकूल हो।

एक सामान्य कसौटी, जिसपर सब लोग सहमत हो सकें, सम्भवतः यह हो सकती है कि हमें मानव-

कल्याण करना है। सभी लोग अपने-अपने तरीकेसे मानव-कल्याणके लिये सचेष्ट भी हैं। कहा जा सकता है कि सभी मत-मतान्तर किसी-न-किसी रूपमें मानव-कल्याणके लिये ही प्रयत्नशील हैं। केवल मानव-कल्याण ही क्यों, अपने उदाररूपमें उनके लक्ष्यका विस्तार जीवमात्रकी कल्याण-कामनापर आधारित रहता है।

महर्षि दधीचि इसी प्राणिमात्रके कल्याणकी भावनासे ही तो अनुप्राणित हुए थे। इसी दिव्य भावनाके लिये ही तो उन्होंने अपने 'स्व' का बलिदान विराट्के लिये किया था। इस उत्कृष्ट भावनाकी संज्ञा है परोपकार। प्राणिमात्रके हितकी कामना, मन, वाणी, शरीरसे यथाशक्ति दूसरे जीवोंकी सेवा-सहायता करना, किसीका अहित-चिन्तन न करना एवं मन, वचन-कर्मसे किसीको पीड़ा न पहुँचाना आदि कार्योंको परोपकार शब्दसे व्यक्त किया जाता है। दूसरे शब्दोंमें विश्व-कल्याणमें रत होनेका पर्यायवाची शब्द ही परोपकार है।

वस्तुतः परोपकार व्यापक शब्द है। सेवा, त्याग, प्रेम, सहृदयता, कष्टसहिष्णुता आदि इसके अंग हैं। इन सम्पूर्ण गुणोंके समवायकी संज्ञा ही परोपकार है। शुद्धरूपमें ईश्वर-प्रेमकी अभिव्यक्ति भी परोपकारद्वारा ही होती है। जगत्के प्राणिमात्रमें ईश्वरके दर्शन करके उनकी सेवामें तत्पर होनेको ही तो भगवान् रामने अपनी अनन्य भक्तिकी संज्ञा दी है।

सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥

(रा०च०मा० ४।३)

ऋषि तिरुवल्लुर भी कहते हैं—'ईश्वरभक्तिका अर्थ है—प्राणिमात्रके प्रति प्रेमभावनाका बाहुल्य! सब आत्माओंमें समाये हुए ईश्वरसे प्रेम करनेका एकमात्र माध्यम यही हो सकता है कि प्राणिमात्रके दुःखको दूर करने और उन्हें सुखी बनानेके लिये अपनेसे जो कुछ हो सके, उसको अधिकाधिक तत्परताके साथ करते रहा जाय।'

ईश्वरभक्तिकी यह परिभाषा इतनी तर्कसंगत एवं सर्वमान्य प्रतीत होती है कि न केवल विविध धर्मानुयायी अपने सिद्धान्तोंमें परिवर्तन किये बिना प्राणिमात्रकी सेवाके इस व्रतको ग्रहण कर सकते हैं, प्रत्युत ईश्वरके अस्तित्वसे सहमत न होनेवाले व्यक्ति भी मानव-कल्याणके नाते इस परोपकार-व्रतके व्रती बन सकते हैं। इस प्रकार सभी मतानुयायी बिना किसी हिचकिचाहटके परोपकारको परम धर्मके रूपमें स्वीकार कर सकते हैं।

यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि परोपकारसे आत्माको असीम तृप्तिका अनुभव होता है। अतएव इस विवेचनसे यह सिद्ध होता है कि दूसरे प्राणीको कष्टमें देखकर हमारे हृदयको पीड़ा पहुँचती है एवं हम अपने हृदयकी उस पीड़ाको दूर करनेके लिये उस कष्टमें ग्रस्त प्राणीकी सेवाहेतु सचेष्ट हुआ करते हैं। इस प्रकार वस्तुतः किसी प्राणीको संकटसे बचा लेने, रोगीकी सेवा-शुश्रूषा करने या भूखेको भोजन कराने आदि कार्योंसे हमारी आत्माकी ही आन्तरिक पीड़ा दूर होकर हमें अन्तःकरणकी शान्ति प्राप्त हुआ करती है।

अतएव चाहे हम ईश्वरको मानें या न मानें, परोपकारको आत्माका सहज स्वभाव मान लेना बुद्धिवादके अनुकूल ही ठहरता है। भले ही हम अपनी अत्यधिक व्यस्तताके बहाने अहंभाव आदि अपने हृदयकी दुर्बलताओंसे परास्त होकर या अर्थसंकटकी दुहाई देकर लोकसेवा-कार्यको टालते रहें; किंतु फिर भी हम परोपकारकी महत्ताकी उपेक्षा करके यह नहीं कह सकते कि परोपकारकी भावना पिछड़े युगकी चीज थी, बीते जमानेकी बात थी, आजके बुद्धिजीवी वातावरणके अनुकूल नहीं है, आदि-आदि।

प्रकृति भी मानो अपनी निःस्वार्थ सेवाद्वारा मानवजातिको परोपकारका पाठ पढ़ानेमें संलग्न है। सूर्य अपनी ऊष्माद्वारा जीव-जगत्को जीवनदान देनेमें निरन्तर रत रहता है। पृथ्वी प्राणियोंके उत्पात सहन करके भी उन्हें अपनी गोदमें आश्रय देती है। चन्द्रमा, वायु, बादल, वृक्ष, नदियाँ आदि प्रकृतिके नाना उपादान किसी-न-किसी रूपमें संसारके कल्याणमें सचेष्ट हैं। किसीने अपनी सेवाके बदले जीवोंसे कोई माँग पेश नहीं की है।

गाय, बैल, घोड़े, कुत्ते आदि मानवेतर प्राणी भी नाना प्रकारसे मानवजातिकी सेवा सम्पन्न कर रहे हैं। इसीलिये नीतिकार इन्हें परोपकारी विभूति मानकर इनकी गणना परोपकारी सन्तोंके रूपमें करता है।

परोपकारी प्राणीको ही संत कहा जाता है; क्योंकि संतका यह सहज स्वभाव होता है कि वह परोपकार किये बिना नहीं रह सकता। बाह्य वेशभूषा नहीं, प्रत्युत हृदयकी परोपकारमयी निर्मल भावना ही संत कहे जानेका अधिकार प्रदान करती है। ऐसे परोपकारी जीव, चाहे तिलक-माला धारण करें या न करें, वे अपने उदार स्वभावके कारण संत संज्ञाके अधिकारी हैं। महात्मा गाँधी इसी श्रेणीके सच्चे संत थे।

नदीमें बहनेवाले बिच्छूको बचानेवाले संतका दृष्टान्त तो सुविदित ही है जो बिच्छूके काटनेपर भी यही कहकर बार-बार उसे बचाता रहा कि बिच्छूका स्वभाव डंक मारना है एवं मेरा स्वभाव जीवरक्षा करना है। अस्तु, इस अद्भुत-से लगनेवाले कार्य-व्यापारमें कोई विशेषता नहीं, प्रत्युत हम अपना-अपना कार्य ही सम्पन्न कर रहे हैं। गोस्वामी तुलसीदासके शब्दोंमें—

पर उपकार बचन मन काया। संत सहज सुभाउ खगराया॥
संत बिटप सरिता गिरि धरनी। पर हित हेतु सबन्ह कै करनी॥
पर हित लागि तजइ जो देही। संतत संत प्रसंसहिं तेही॥

यह उद्धरण स्पष्ट प्रकट करता है कि परोपकारी प्राणी केवल संत कहे जानेका ही अधिकारी नहीं, प्रत्युत संतोंद्वारा अभिवन्दनीय बन जाता है। वह किसी भी जाति, वर्ग, सम्प्रदायका क्यों न हो, वही यथार्थमें महामानव है। वह महामानव मरकर भी अमर हो जाता है। परोपकारके लिये मृत्युका वरण करनेवाला दधीचि-जैसा महामानव क्या कभी मरा करता है? कदापि नहीं। यदि ऐसा महामानव मर गया होता तो आज उसकी गौरव-गाथा हम क्यों गा रहे होते?

परहितके लिये प्राणोंका बलिदान कर देनेवाला प्राणी क्या घाटेमें रहता है? कदापि नहीं। भारतकी राजलक्ष्मी सीताको आततायी रावणके द्वारा अपहृत होते देखकर उस जगद्विजयी लंकाधिपतिसे मोर्चा लेनेवाला जटायु जानता था कि इस मुकाबलेमें निश्चितरूपसे मेरी मृत्यु है, किंतु मृत्यु-भयने उसे परमार्थ-पथसे विचलित नहीं किया। परोपकारार्थ स्वयं आहूत इस युद्धकी बलिवेदीपर जटायुको अपने प्राणोंकी आहुति देनी पड़ी। पर क्या वह घाटेमें रहा? उसे तो वह देव-दुर्लभ सद्गति प्राप्त हुई, जो सुकृती, ज्ञानी, योगियोंको भी नहीं प्राप्त हुआ करती। यह सद्गति देकर भी भगवान् राम यही कह रहे थे कि मैंने कुछ कृपा करके यह गति तुम्हें प्रदान नहीं की है, प्रत्युत तुम्हारे परोपकार-कर्मसे यह शुभ गति तुम्हारा सहज स्वत्व बन गयी है। परोपकारी जीवको भी भला कोई वस्तु दुर्लभ रह जाती है क्या?

जल भरि नयन कहहिं रघुराई। तात कर्म निज तें गति पाई॥
परहित बस जिन्ह के मन माहीं। तिन्ह कहुँ जग दुर्लभ कछु नाहीं॥

परोपकारके लिये आत्मबलिदान करनेवाले ऐसे महामानवोंकी गौरव-गाथासे भारतका इतिहास देदीप्यमान है। नागोंकी प्राणरक्षाके लिये अपने जीवनका दान करनेवाले जीमूतवाहन, कबूतरकी प्राणरक्षाके लिये अपने शरीरका मांस देनेवाले नरेश शिबि, याचकके लिये अपने शरीरका कवच-कुण्डल दान करनेवाले उदार कर्ण, गौरक्षाके लिये अपना शरीर समर्पित करनेवाले नरेश दिलीप, स्वयं भूखकी ज्वालासे तड़पते हुए भी भूखी आत्माओंको देखकर अपने अन्नजलका दान करनेवाले उन महाराज रन्तिदेवके नाम क्या कभी मानवताके इतिहाससे भुलाये जा सकेंगे; जो भगवान्‌द्वारा वर-याचनाकी आज्ञा पानेपर भी यही माँगते हैं कि मैं अष्टसिद्धियाँ, स्वर्ग, मोक्षादि कुछ नहीं चाहता। मेरी यही कामना है कि मैं समस्त प्राणियोंके अन्तःकरणमें स्थित होकर उनका दुःख स्वयं भोगा करूँ।

न कामयेऽहं गतिमीश्वरात् परामष्टर्द्धियुक्तामपुनर्भवं वा।
आर्तिं प्रपद्येऽखिलदेहभाजामन्तःस्थितो येन भवन्त्यदुःखाः॥

(श्रीमद्भा० ९। २१। १२)

आधुनिक युगमें भी ऐसे परोपकारी महापुरुषोंसे भारत-भूमि खाली नहीं रही है। ईश्वरचन्द्र विद्यासागरद्वारा अनाथ रोगीकी सेवा, महामना मदनमोहन मालवीयद्वारा रास्तेमें कराहते घिनौने रोगी कुत्तेकी मरहमपट्टी, महात्मा

गांधीद्वारा परचुरे शास्त्री आदि कुष्ठरोगियोंकी सेवा, आचार्य विनोबाभावेद्वारा परकल्याणार्थ गाँव-गाँव पैदल जाकर भूदान-कार्य आदि परोपकार-व्रतके ऐसे ज्वलन्त उदाहरण हैं, जो हमें परसेवाव्रती बननेकी जीवन्त प्रेरणा प्रदान करते हैं। परोपकारव्रत किसी देशविशेषकी ही बपौती नहीं है। डेविड लिविंगस्टनका अपने देश इंग्लैंडसे हजारों मील दूर अफ्रीकाकी नरभक्षी नीग्रो जातियोंके बीच बसकर उनमें मानवताका प्रसार करना क्या हमें परमार्थ-व्रती बननेका पाठ नहीं पढ़ाता?

हममेंसे हर व्यक्ति समाजका ऋणी भी तो है। क्या हमारा यह कर्तव्य नहीं कि हम समाजके उस ऋणको चुकानेके लिये प्रयत्नशील बनें? अपने इस सहज कर्तव्यके नाते भी परोपकार मानवके लिये वरणीय है; क्योंकि मानव ही एक ऐसा प्राणी है, जो अपने जीवनके पालन-पोषण, शिक्षा-दीक्षा, विकास, सुख-साधनादिके लिये न केवल अपने पूर्वपुरुषोंके परिश्रम एवं अध्यवसायका ऋणी है, प्रत्युत मानवेतर प्राणियोंसे भी वह नाना रूपोंमें सुख-सुविधाएँ ग्रहण करता है। अतः प्रत्येक मानवका यह प्रमुख कर्तव्य है कि कम-से-कम अपने ऋणसे उऋण होनेके लिये ही परोपकारकी परम्पराको कायम रखे।

यदि परोपकारकी सद्वृत्ति मानवके अन्तःकरणको आलोकित नहीं करती तो उसके अनेक कर्मकाण्ड, पूजा-प्रक्रियाएँ निरर्थक रहेंगी। उसे ईश्वरभक्त कहना तो बहुत दूर है, परहित-यज्ञकी भावनासे रहित वह स्वार्थी मानव गीताके शब्दोंमें चोरकी संज्ञासे पुकारा जायगा।

इष्टान्भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः॥

(श्रीमद्भगवद्गीता ३।१२)

मनुष्यके चरित्रकी परीक्षा उसके परोपकारी कृत्योंके आधारपर ही होती है, न कि व्यक्तिगत वैभव-अर्जनपर। जो मनुष्य सबके दुःख दूर करनेमें जितना प्रयत्नशील होता है, वह उतना ही सभ्य, सुसंस्कृत एवं उच्च विचारवाला माना जाता है; क्योंकि परोपकारका विशद भाव ही मानवकी अन्तरात्माकी महानताकी कसौटी है।

भर्तृहरि उन्हें धन्य मानते हैं जो परोपकारके यज्ञमें अपने जीवनको समिधा बनाकर आहुति कर देते हैं। ऐसे महामानव अपनी हानि उठाते हुए भी परोपकारमें रत रहा करते हैं। भले ही उनकी कोठरीमें एक ही व्यक्तिके सोनेका स्थान है, पर स्थान माँगनेवालेकी पुकारपर वे कभी भी लेटे न रहेंगे, प्रत्युत बैठकर दोनोंके लिये स्थान कर लेंगे। फिर तीसरे याचकके आनेपर वे खड़े होकर उसके लिये भी अवकाश निकाल लेंगे। इन महापुरुषोंके हृदय इतने विशाल होते हैं कि उनकी परिधिसे किसीको बाहर नहीं किया जा सकता। उनके हृदयमें दिव्य पुष्पक विमानकी तरह आगन्तुकके लिये स्थान बना ही रहता है।

सामान्य श्रेणीके व्यक्ति इतना त्याग तो नहीं कर पाते; फिर भी वे अपनी व्यक्तिगत हानि बचाते हुए ही परसेवामें दत्तचित्त रहा करते हैं। भर्तृहरिको उनसे कोई शिकायत नहीं है। हम इतना ही कर सकें, तब भी गनीमत समझनी चाहिये।

इन परोपकारी जीवोंके विपरीत आसुरी वृत्तिवाले पुरुष अपने स्वार्थके लिये दूसरोंकी हानि करनेमें नहीं चूका करते। किंतु आश्चर्यकी हद तो तब हो जाया करती है, जब ऐसे भी व्यक्ति पाये जाते हैं, जो बिना कारण ही दूसरोंकी हानि करनेमें आगापीछा नहीं सोचा करते। भर्तृहरि ऐसे नारकीय प्राणियोंका नामकरण करनेमें अपनेको असमर्थ पाकर हत-बुद्धि हो जाते हैं।

एके सत्पुरुषाः परार्थघटकाः स्वार्थं परित्यज्य ये
सामान्यास्तु परार्थमुद्यमभृतः स्वार्थाविरोधेन ये।
तेऽमी मानवराक्षसाः परहितं स्वार्थाय निघ्नन्ति ये
ये निघ्नन्ति निरर्थकं परहितं ते के न जानीमहे॥

परोपकारसे उपकृत व्यक्तिको तो तत्काल लाभ पहुँचता ही है, साथ ही उपकार करनेवाला व्यक्ति भी आत्मसंतोष एवं आत्मतृप्तिको वरण करता है। इस प्रकार परोपकारसे मनुष्यकी आध्यात्मिक क्षुधा तृप्त होती है। परोपकारी व्यक्तिके चरित्रमें सत्त्वगुणी तत्त्वोंका समावेश बढ़ता जाता है, जिससे एक दिन वह

आध्यात्मिकताके उच्चतम आदर्शोंका स्पर्श करने लगता है। अस्तु, परोपकार आध्यात्मिक सद्‌गुणोंका मूल है।

मानव-जीवनकी सार्थकता परहितके लिये आत्मबलिदान करनेकी भावनामें ही निहित है। यही मानवका परम धर्म है। मानवताके इस उच्चतम आदर्शको अपने जीवनमें व्यवहृत करनेमें विलम्ब करना पाशविकतामें आबद्ध रहना है।

परोपकारके इस कर्तव्यपालनके मार्गमें हम प्राय: दो बाधाएँ गिनाया करते हैं—'भाई! हमारी आर्थिक स्थिति ठीक नहीं है। हम परोपकार करना तो चाहते हैं, लेकिन धनाभावमें हम किसीकी सहायता करें तो कैसे करें?' या 'हमारे पास बिलकुल समय ही नहीं बचता, हम लोकसेवाका कार्य किस समय करें?'

विचार करनेपर ये दोनों दलीलें थोथी सिद्ध होती हैं। हम बिना धनके ही अनेक प्राणियोंकी सहायता करके उन्हें कष्टसे मुक्त कर सकते हैं। संसारमें ऐसे अनेक दुखी होते हैं जो प्रेम एवं सद्भावनाकी दो बातोंके लिये तरसते रहते हैं। क्या हम यह नहीं कर सकते कि उनको सान्त्वना देकर, उनसे प्रेमके दो मधुर वचन बोलकर, उन्हें साहस, धैर्य, कष्ट-सहिष्णुताका पाठ पढ़ाकर उनकी कष्ट-मुक्तिमें सहायक बन जायें?

संसारमें अनेक व्यक्ति अविवेकसे आत्माका पतन करनेवाले असत् कर्मोंमें लगे रहकर अपनी ही मूर्खतावश स्वयं कष्ट भोगा करते हैं। क्या हम उनमें सद्ज्ञानका प्रसार करके उनका विवेक जाग्रत् नहीं कर सकते? क्या इसमें भी धन व्यय होता है? ज्ञानदानसे बढ़कर तो संसारमें कोई दान ही नहीं है। फिर हम सद्ज्ञानके प्रसारमें कृपणता क्यों करते हैं? हम पिछड़े वर्गके लोगोंमें साक्षरताका प्रसार करके क्या मानवताकी सेवा नहीं कर सकते?

ज्ञानदान तो आज देशकी सबसे बड़ी आवश्यकता भी है। अज्ञानी लोगोंका प्रजातन्त्र तो अभिशाप ही हुआ करता है। क्या हम इस अभिशापको दूर हटानेमें अपना योगदान नहीं दे सकते? फिर हम क्यों हाथ सिकोड़े बैठे रहते हैं?

हमारी दूसरी दलील समयके अभावका रोना तो और भी थोथा बहाना है। हम नित्य न जाने कितना समय व्यर्थकी बातों, गपबाजी, कोरे मनोरंजनमें व्यतीत किया करते हैं। क्या इसमेंसे कुछ समय बचाकर मानवसेवाका कार्य नहीं कर सकते? किसी अपाहिजको उसके ठिकानेपर पहुँचा देना, किसी अनजानको उसके वाञ्छित स्थानका मार्ग बता देना, किसी रोगीको अस्पताल पहुँचा देना आदि अनेकों ऐसे कार्य हैं, जो हम अपने दैनन्दिन जीवनमें बिना किसी अड़चनके करते रह सकते हैं। इतने छोटे-छोटे कार्योंके लिये भी समयकी कमीका रोना निरर्थक प्रलाप है। हमारे घरपर किसीके बीमार हो जानेपर हमें उसकी तीमारदारीके लिये कहाँसे समय मिल जाता है? यदि हम उस कार्यके लिये अपने व्यस्त जीवनमेंसे समय निकाल सकते हैं तो पर-हितके लिये भी घण्टे-आध घण्टेका समय निकाल लेना कठिन कार्य नहीं है।

यह बात दूसरी है कि हम अपने स्वार्थके संकीर्ण दायरेमें ही इतने जकड़े रहते हैं कि परमार्थके लिये अपना समय लगाना ही नहीं चाहते। तब हम साफ-साफ क्यों नहीं कह देते कि 'हमें परोपकारसे कोई मतलब नहीं, हम तो घोर स्वार्थी व्यक्ति हैं।'

किंतु हम इस कटु सत्यको स्वीकार नहीं करना चाहते। उचित भी है। हम पशुदेह-धारी नहीं, मानवदेह-धारी हैं। स्वार्थी मानव तो पशुसे भी गया-बीता माना जाता है। हमें पशु-श्रेणीमें गिना जाना लेशमात्र भी पसन्द नहीं है। फिर तो हमारे सामने एक ही विकल्प रह जाता है; वह यही है कि हम परोपकारके लिये कुछ-न-कुछ समय अवश्य निकालें।

यदि हमें सच्चे अर्थोंमें मानव कहे जानेका अधिकारी बनना है एवं मानवताको विनाशसे बचाना है तो आइये, इसी क्षण परोपकार-व्रतके व्रती बननेका संकल्प ग्रहण कर लें। गोस्वामी तुलसीदासजीके इस आदर्श मन्त्रको हम आजसे ही अपना पथ-प्रदर्शक बना लें—

पर हित सरिस धर्म नहिं भाई । पर पीड़ा सम नहिं अधमाई॥

वृद्ध माता-पिताकी सेवा

(श्री श्रीकुमारजी मुँधड़ा)

अपने परिवारके परम आदरणीय एवं पूजनीय वृद्ध माता-पिताकी सेवासे बढ़कर और कोई सेवा नहीं है। माता-पिताने हमें जन्म दिया है। उन्होंने स्वयं अत्यन्त कष्ट सहकर भी प्रसन्न चित्तसे हमारा पालन-पोषण किया है, हमें बड़ा किया है। अच्छे संस्कार देकर एवं अच्छी शिक्षा दिलाकर हमें इस योग्य बनाया है कि हम अपना भला-बुरा स्वयं सोच सकें। उन्होंने हमें जीवन-जीनेकी कला सिखलायी है ताकि हम जीवन-पथपर सबके साथ सद्व्यवहार करते हुए, सबका भला करते हुए सुगमतासे आगे बढ़ते रहें। उन्होंने हमारे लिये इस जीवनमें जो कुछ किया है, उस ऋणसे हम कभी उऋण नहीं हो सकते हैं।

यदि हम अपने तन, मन एवं धनके द्वारा उन्हें सदैव सुख पहुँचाते रहें और यदि वे पूर्ण रूपसे प्रसन्न हो जायँ तो हमारा ऋण माफ कर सकते हैं। यही एक तरीका है, जिसके द्वारा हम उनसे उऋण हो सकते हैं, अन्य कोई भी तरीका नहीं है।

अतः हमें अपने वृद्ध माता-पिताकी सेवा तन, मन एवं धनके द्वारा करनी चाहिये। उनके मनोनुकूल सब कार्य करके उनका मन प्रसन्न हो जाय, ऐसी प्राणपणसे चेष्टा करनी चाहिये। उनकी आज्ञा पालन करनेमें अत्यन्त तत्परता रखनी चाहिये। हमें यह कभी नहीं भूलना चाहिये कि बचपनमें उन्होंने हमारी सभी माँगोंको सहर्ष पूरा किया है। हमने जो माँगा, वह तत्क्षण पाया था। इसलिये हमें भी उचित-अनुचितका विचार किये बिना सदैव उन्हें प्रसन्न रखनेका प्रयास करना चाहिये।

हमारा यह कर्तव्य है कि हम अपने माता-पिताके हृदयमें जरा भी ठेस नहीं पहुँचायें। उनके मनकी रुचिको ध्यानमें रखते हुए उनका मन प्रसन्न रखना चाहिये। ऐसा करनेसे हमें जीवनभर उनके द्वारा हृदयसे शुभाशीषें प्राप्त होती रहेंगी। माता-पिता जबतक स्वस्थ रहते हैं, अपने सब कार्य स्वयं करते रहते हैं, वे हमसे कुछ भी आशा नहीं रखते हैं। प्रौढावस्था आनेके बाद धीरे-धीरे जब वे वृद्धावस्थामें प्रवेश करते हैं, तभी वे हमसे कुछ आशा रखते हैं। हमें उस समय अपना फर्ज निभानेमें शत-प्रतिशत खरा उतरना होगा।

कहा भी गया है कि बुढ़ापा बहुधा बचपनका पुनरागमन होता है। वृद्ध माता-पितामें भी अक्सर बाल-सुलभ आदतें आ जाती हैं। हमें यह सदैव स्मरण रखना चाहिये कि बचपनमें हमने जो कुछ किया था, वृद्धावस्थामें हमारे माता-पिता कर सकते हैं। बालक अपने बालपनमें कुछ भी हठ करके माँग सकता है और हमारे माता-पिताने उस समय हमारी सभी माँगोंको तुरंत ही पूर्ण किया था। जीवनमें सबसे कठिन कार्य है किसी व्यक्तिके मनोनुकूल कार्य करना और हमारी शैशवावस्थामें हमारे माता-पिताने हमेशा ऐसा किया था। अब जब हमारे पूजनीय एवं परम आदरणीय माता-पिताने वृद्धावस्था प्राप्त कर ली है तब हमारा कर्तव्य बनता है कि हम पूर्णतः उनके मनके अनुकूल कार्य करें। उनकी आज्ञापालनमें पूर्ण सतर्कता रखें।

हमें उनकी तन, मन एवं धनसे सेवा करनेके लिये प्रस्तुत होना चाहिये। वे यदि अस्वस्थ हो जायें तो उनकी अहर्निश देखभाल करनी चाहिये। उन्हें किसी भी प्रकारका कष्ट न हो, यह सावधानी रखना आवश्यक है। उनके मनमें जो भी बात आये, उसे भरसक पूरा करनेका प्रयत्न करना चाहिये। उनकी इच्छा यदि कहीं तीर्थस्थलमें जानेकी है तो उनकी पूर्ण सुख-सुविधाका ख्याल रखते हुए वहाँ जरूर ले जाना चाहिये। उनकी दान-पुण्य करनेकी इच्छा हो तो अपनी सामर्थ्यानुसार उन्हें धन देना चाहिये, जिससे वे अपनी इस इच्छाको पूरी कर सकें।

महाकवि संत तुलसीदासजीरचित श्रीरामचरितमानसमें

भी आया है—

मातु पिता गुर प्रभु कै बानी। बिनहिं बिचार करिअ सुभ जानी॥

(रा०च०मा० १।७७।३)

माता-पिता, गुरु और स्वामीकी बातको बिना ही विचारे शुभ समझकर करना (मानना) चाहिये। उनकी आज्ञा पालन करनेसे हमारा सदैव मंगल ही होगा। अत: विचार किये बिना उनकी आज्ञानुसार कार्य करना चाहिये।

वृद्ध माता-पिताकी प्रसन्नचित्त होकर सेवा करनेसे जीवनमें हमें सर्वस्व प्राप्त हो जाता है। हमारे जीवनमें आयु, विद्या, यश एवं बलकी वृद्धि हो जाती है, कारण वे प्रसन्न होकर हृदयसे आशीर्वादोंकी सतत वर्षा करते रहते हैं। जीवनमें पग-पगपर हमारी रक्षा होती रहती है।

माता-पिताकी महत्ताका उल्लेख शिवपुराणमें इस प्रकार मिलता है—

पित्रोश्च पूजनं कृत्वा प्रकान्तिं च करोति य:।
तस्य वै पृथिवीजन्यफलं भवति निश्चितम्॥
अपहाय गृहो यो वै पितरौ तीर्थमाव्रजेत्।
तस्य पापं तथा प्रोक्तं हनने च तयोर्यथा॥
पुत्रस्य च महत्तीर्थं पित्रोश्चरणपङ्कजम्।
अन्यतीर्थं तु दूरे वै गत्वा सम्प्राप्यते पुन:॥
इदं सन्निहितं तीर्थं सुलभं धर्मसाधनम्।
पुत्रस्य च स्त्रियाश्चैव तीर्थं गेहे सुशोभनम्॥

(शिवपुराण रुद्रसंहिता कुमारखण्ड १९।३९—४२)

अर्थात् जो पुत्र माता-पिताकी पूजा करके उनकी प्रदक्षिणा करता है, उसे पृथ्वी-परिक्रमाजनित फल सुलभ हो जाता है। जो माता-पिताको घर छोड़कर तीर्थयात्राके लिये जाता है, वह उनके मनके विपरीत कार्य करनेसे पापका भागी होता है; क्योंकि पुत्रके लिये माता-पिताके चरणसरोज ही महान् तीर्थ हैं, अन्य तीर्थ तो दूर जानेपर प्राप्त होते हैं, परंतु धर्मका साधनभूत यह तीर्थ तो पासमें ही सुलभ है। पुत्रके लिये माता-पिता और स्त्रीके लिये पति सुन्दररूप तीर्थ घरमें ही विद्यमान है।

अत: जीवनमें हमारा सर्वोच्च धर्म अपने पूजनीय वृद्ध माता-पिताकी सेवा ही है, इससे ऊँचा कोई धर्म नहीं है।

आवरणचित्र-परिचय

[रोगीकी सेवा—भगवत्सेवा]

'कामये दु:खतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्'—सच्चा सेवाभावी भगवान्से यही प्रार्थना करता है, यही अभिलाषा करता है कि हे प्रभो! मुझे ऐसी शक्ति-सामर्थ्य दीजिये कि मैं दुखी प्राणियोंके दुखोंको दूर कर सकूँ। **'सर्वे भवन्तु सुखिन: सर्वे सन्तु निरामया:'** यही सेवाभावीके जीवनका मूल मन्त्र है। वास्तवमें सभी प्राणियोंके हितमें नि:स्वार्थ भावसे निरत रहना बहुत उच्च कोटिकी साधना है। ऐसी सेवा भगवत्सान्निध्यकी फलदायिका होती है। कोई रोगी हो, अशक्त हो, उठने-बैठनेमें सर्वथा असमर्थ हो, भूख-प्याससे व्याकुल हो—ऐसा आतुर प्राणी चाहे माता-पिता हो अथवा जो कोई भी हो, उसकी यथाशक्ति सेवा-सहायता करना आत्मतोष एवं आत्मकल्याणका सहज साधन है। बड़ी-से-बड़ी तपस्या, योग, ज्ञान, ध्यान, जप-तपसे भी जो बड़ी कठिनतासे प्राप्य हैं, ऐसे दयालु भगवान् सेवारूपी साधनसे सहज ही प्रसन्न हो उठते हैं और उसे अपना दर्शन देकर कृतार्थ कर देते हैं। चित्रमें इसी भावको प्रदर्शित किया गया है कि भगवत्सेवा समझकर रोगीकी सेवा करनेसे भगवान्का अनुग्रह प्राप्त होता है।

'सब तें सेवक धरमु कठोरा'

[श्रीभरतजीकी सेवा-निष्ठा]

(डॉ० श्रीभगवान दासजी पटैरया)

श्रीरामचरितमानस एक ऐसा दिव्य महाकाव्य है, जिसमें मानव-जीवनके विभिन्न आयामोंके ऐसे आदर्श मिलते हैं, जो अन्यत्र सुलभ नहीं हैं। ज्ञान, भक्ति, वैराग्य, सेवा आदिके आदर्श मानवको महामानव बनानेमें सक्षम हैं। सेवाभावका अतुलनीय आदर्श श्रीभरतजीके चरित्रमें मिलता है, जब वे श्रीरामजीको मनाने चित्रकूट जाते हैं। उस समय वे पैदल ही चल रहे थे। उनके सेवक घोड़ेपर बैठनेके लिये उनसे बार-बार आग्रह कर रहे थे। उस समय उन्होंने अपने उन सेवकोंको यह उत्तर दिया—

रामु पयादेहि पायँ सिधाए। हम कहँ रथ गज बाजि बनाए॥
सिर भर जाउँ उचित अस मोरा। सब तें सेवक धरमु कठोरा॥

(रा०च०मा० २। २०३। ६-७)

भरतजी स्वयं अपनेको अपने ज्येष्ठ भ्राता श्रीरामजीका सेवक मानते हैं; क्योंकि सूर्यवंशकी यही रीति है। यह रीति उन्होंने अपनी माता कैकेयीसे सीखी है; क्योंकि बच्चेकी प्रथम गुरु माँ ही होती है। स्वयं माता कैकेयीने यह सिद्धान्त अपनी दासी मन्थराको उस समय बताया था, जब ईश्वरीय प्रेरणासे वह उनको 'राम-राज'के विरुद्ध भड़का रही थी। उन्होंने उसे पहले तो डाँट दिया पर होनहारवश पुनः समझाते हुए यह कहा—

जेठ स्वामि सेवक लघु भाई। यह दिनकर कुल रीति सुहाई॥
राम तिलकु जौं साँचेहुँ काली। देउँ मागु मन भावत आली॥

(रा०च०मा० २। १५। ३-४)

सेवकका धर्म बड़ा कठोर होता है। स्वामीके सुखमें ही उसका सुख निहित है। वह अपना निजी सुख-भोग कर ही नहीं सकता है और यदि वह अपने सुखकी चाह रखता है तो वह सच्चा सेवक नहीं हो सकता। श्रीरामचरितमानसमें उल्लेख है कि यदि सेवक सुख चाहे, भिखारी सम्मान चाहे, व्यसनी धन चाहे, व्यभिचारी शुभ गति चाहे, लोभी यश चाहे और अभिमानी चार पदार्थ अर्थात् अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष चाहे तो इन प्राणियोंकी चाहत इसी प्रकारसे है, जैसे—कोई आकाशका दोहन करके दूध चाहता हो—

सेवक सुख चह मान भिखारी। ब्यसनी धन सुभ गति बिभिचारी॥
लोभी जसु चह चार गुमानी। नभ दुहि दूध चहत ए प्रानी॥

(रा०च०मा० ३। १७। १५-१६)

सेवकका अपना कोई हित नहीं होता। सेवकका हित इसीमें है कि वह सभी प्रकारके सुख और लोभका त्याग करके स्वामीकी सेवा करे। श्रीभरतजीके सेवाभावसे प्रसन्न होकर गुरु वसिष्ठजी चित्रकूटमें श्रीरामजीसे कहते हैं कि पहले भरतजीकी विनती सुनिये और फिर साधुमत, लोकमत, राजनीति तथा वेदानुसार कीजिये। इसपर श्रीरामजी पूरे विश्वासके साथ भरतजीसे कह देते हैं कि जो भरत कहें, वे करनेको तैयार हैं। यह स्वामीकी सेवकके प्रति अटूट विश्वासकी पराकाष्ठा है।

मनु प्रसन्न करि सकुच तजि कहहु करौं सोइ आजु।
सत्यसंध रघुबर बचन सुनि भा सुखी समाजु॥

(रा०च०मा० २। २६४)

श्रीरामजीके इस कथनसे अयोध्याका समाज सुखका अनुभव करता है। वे सोचते हैं कि अब तो भरतजी कह ही देंगे कि हे रामजी! आप अयोध्या वापस चलिये। इस प्रसंगमें भरतजी का उत्तर एक निष्ठावान् सेवकके रूपमें प्रशंसनीय है। वे मन-ही-मन इस प्रकार से सोचते हैं—

करि बिचारु मन दीन्ही ठीका। राम रजायस आपन नीका॥
निज पन तजि राखेउ पनु मोरा। छोहु सनेहु कीन्ह नहिं थोरा॥

(रा०च०मा० २। २६६। ७-८)

उपर्युक्त सोच-विचारके साथ इसपर भरतजी ***'सब तें सेवक धरमु कठोरा'***के सिद्धान्तानुसार इस प्रकार कहते हैं—

जो सेवकु साहिबहि सँकोची। निज हित चहइ तासु मति पोची॥

सेवक हित साहिब सेवकाई। करै सकल सुख लोभ बिहाई॥
स्वारथु नाथ फिरें सबही का। किएँ रजाइ कोटि बिधि नीका॥
यह स्वारथ परमारथ सारू। सकल सुकृत फल सुगति सिंगारू॥

(रा०च०मा० २।२९८।३—६)

भरतजी कहते हैं—जो सेवक स्वामीको संकोचमें डालकर अपना भला चाहता है, उसकी बुद्धि नीच है। सेवकका हित तो इसीमें है कि वह समस्त सुखों और लोभोंको छोड़कर स्वामीकी सेवा ही करे। हे नाथ! आपके लौटनेमें सभीका स्वार्थ है और आपकी आज्ञाका पालन करनेमें करोड़ों प्रकारसे कल्याण है। यही स्वार्थ और परमार्थका सार है, समस्त पुण्योंका फल और सम्पूर्ण शुभ गतियोंका शृंगार है।

इस प्रकारसे भरतजी अपने ही नहीं सम्पूर्ण अयोध्यावासियोंके स्वार्थका त्याग करते हुए यही विनती करते हैं कि जो श्रीरामजी आज्ञा दें, उसीमें सभीका कल्याण है।

चित्रकूटमें जब महाराज जनक श्रीभरतजीसे श्रीरामजीके अयोध्या लौटानेके सन्दर्भमें विचार-विमर्श करते हैं, तब भरतजी स्पष्टरूपसे कह देते हैं कि सेवकका धर्म बहुत कठिन होता है। इसमें उसका अपने स्वार्थसे विरोध होता है अर्थात् उसे अपने किसी भी प्रकारके स्वार्थके लिये स्वामीकी इच्छाके विरुद्ध कोई कार्य नहीं करना चाहिये। वे इस प्रकरणमें अपनी विवशता बताते हुए इस प्रकारसे निवेदन करते हैं—

आगम निगम प्रसिद्ध पुराना। सेवाधरमु कठिन जगु जाना॥
स्वामि धरम स्वारथहि बिरोधू। बैरु अंध प्रेमहि न प्रबोधू॥

(रा०च०मा० २।२९३।७-८)

सेवकका स्वामीके प्रति अटूट विश्वास होना भी 'सेवाधर्म'का एक अभिन्न अंग है। भरतजीको अपने स्वामी श्रीरामजीपर अटूट विश्वास है। इसका प्रमाण उस समय मिलता है, जब अपने पिताका अन्तिम संस्कार करनेके पश्चात् भरतजीको राजदरबारमें बुलाया जाता है और गुरु वसिष्ठ, सभी मन्त्रीगण और यहाँतक कि माता कौसल्या भी उनसे राजपद स्वीकार करनेका आग्रह करतीं हैं, तब भरतजी अपने उद्गार इस प्रकारसे व्यक्त करते हैं—

गुर बिबेक सागर जगु जाना। जिन्हहि बिस्व कर बदर समाना॥
मो कहँ तिलक साज सज सोऊ। भएँ बिधि बिमुख बिमुख सबु कोऊ॥
परिहरि रामु सीय जग माहीं। कोउ न कहिहि मोर मत नाहीं॥

(रा०च०मा० २।१८२।१—३)

अर्थात् गुरुजी ज्ञानके समुद्र हैं, इस बातको सारा जगत् जानता है, जिनके लिये विश्व हथेलीपर रखे हुए बेरके समान है; वे भी मेरे लिये राजतिलकका साज सज रहे हैं। सत्य है, विधाताके विपरीत होनेपर सब कोई विपरीत हो जाते हैं। श्रीरामचन्द्रजी और श्रीसीताजीको छोड़कर जगत्में कोई यह नहीं कहेगा कि इस अनर्थमें मेरी सम्मति नहीं है।

भरतजी बड़े विश्वासके साथ राजदरबारमें सभीसे कहते हैं कि यद्यपि मैं दोषी हूँ, किंतु मेरे स्वामी श्रीरामजी मुझे क्षमा करके मेरी विनती सुनकर अयोध्या वापस आ जायँगे।

जद्यपि मैं अनभल अपराधी। भै मोहि कारन सकल उपाधी॥
तदपि सरन सनमुख मोहि देखी। छमि सब करिहहिं कृपा बिसेषी॥

(रा०च०मा० २।१८३।३-४)

इसी विश्वासके साथ भरतजी अपने समाज और माताओंके साथ चित्रकूटके लिये प्रस्थान करते हैं, जहाँ श्रीरामजी वनवास कर रहे थे। जब वे प्रयागराज पहुँचते हैं और तीर्थराजसे प्रार्थना करते हैं, उस प्रार्थनामें भी उनका श्रीरामजीके प्रति अटूट विश्वास झलकता है। श्रीरामचरितमानसमें इसका विशद विवरण इस प्रकारसे दिया है—

जानहुँ रामु कुटिल करि मोही। लोग कहउ गुर साहिब द्रोही॥
सीता राम चरन रति मोरें। अनुदिन बढ़उ अनुग्रह तोरें॥

(रा०च०मा० २।२०५।१-२)

अर्थात् स्वयं श्रीरामचन्द्रजी भी भले ही मुझे कुटिल समझें और लोग मुझे गुरुद्रोही तथा स्वामिद्रोही भले ही कहें; पर श्रीसीतारामजीके चरणोंमें मेरा प्रेम

आपकी कृपासे दिन-दिन बढ़ता ही रहे।

अपने स्वामीके प्रति यही दृढ़ विश्वास उनकी चित्रकूटके समीपकी यात्राके समय श्रीराम-सखा निषादराजके साथ हुए संवादमें मिलता है। वे रास्तेमें नाना प्रकारके कुतर्क सोचते हुए चलते हैं—

समुझि मातु करतब सकुचाहीं। करत कुतरक कोटि मन माहीं॥
रामु लखनु सिय सुनि मम नाऊँ। उठि जनि अनत जाहिं तजि ठाऊँ॥

(रा०च०मा० २।२३३।७-८)

अर्थात् भरतजी अपनी माताकी करनीको यादकर सकुचाते हैं और सोचते हैं कि श्रीराम, लक्ष्मण और सीताजी मेरा नाम सुनकर स्थान छोड़कर कहीं दूसरी जगह उठकर न चले जायँ।

इन कुतर्कोंके बीच जब वे अपने स्वामी श्रीरामजीके क्षमाशील दयालु स्वभावको स्मरण करते हैं, तब आगे शीघ्रतासे कदम बढ़ाते हैं—

जब समुझत रघुनाथ सुभाऊ। तब पथ परत उताइल पाऊ॥

(रा०च०मा० २।२३४।६)

सेवकका अपने स्वामीके सम्बन्धियोंसे भी असीम प्रेम होता है। चित्रकूट-यात्राके समय जब वे शृंगवेरपुरके पाससे निकलते हैं और गुरु वसिष्ठजी निषादराजका परिचय रामके सखाके रूपमें देते हैं, तब भरतजी प्रेममें उमड़ते हुए उनसे मिलनेके लिये आतुर हो जाते हैं और उनसे मिलकर उन्हें ऐसा लगा, मानो भाई लक्ष्मणसे मिल रहे हों।

राम सखा सुनि संदनु त्यागा। चले उतरि उमगत अनुरागा॥
गाउँ जाति गुहँ नाउँ सुनाई। कीन्ह जोहारु माथ महि लाई॥
करत दंडवत देखि तेहि भरत लीन्ह उर लाइ।
मनहुँ लखन सन भेंट भइ प्रेमु न हृदयँ समाइ॥

(रा०च०मा० २।१९३।७-८, २।१९३)

जब सेवक अपना धर्म सत्यनिष्ठा, नि:स्वार्थभाव एवं पूर्ण समर्पणसे निभाता है, तब स्वामीको भी उसके प्रति इतना विश्वास हो जाता है कि किसी भी परिस्थितिमें स्वामी यह माननेको तैयार नहीं होता कि उसके सेवकसे कोई त्रुटि हो सकती है। संवादहीनताके कारण निषादराजको सन्देह हो गया था कि भरतजी श्रीरामजीपर आक्रमण करने जा रहे हैं, किंतु बादमें एक सगुन-विचारक वृद्धके समझानेपर उन्होंने टकरावका रास्ता छोड़ भेद जाननेका प्रयास किया और वास्तविकता ज्ञात होनेपर वे उनके भी सखा हो गये। इसी प्रकार जब लक्ष्मणजीको समाचार मिला कि भरतजी सेनाके साथ आ रहे हैं तो उनको भी निषादराजकी तरह सन्देह हो गया और वे भरतजीके विरुद्ध बहुत कुछ बोल गये; क्योंकि परिस्थितिको देखकर और भरतजीका स्वभाव स्मरणकर कुछ क्षणके लिये श्रीरामजीको भी क्षोभ हो गया था, पर तुरन्त ही समाधान भी हो गया था। उन्होंने लक्ष्मणजीको समझाते हुए कहा कि भरतको कभी राजमद नहीं हो सकता है, ऐसा उनका अटूट विश्वास है—

सुनहु लखन भल भरत सरीसा। बिधि प्रपंच महँ सुना न दीसा॥
भरतहि होइ न राजमदु बिधि हरि हर पद पाइ।
कबहुँ कि काँजी सीकरनि छीरसिंधु बिनसाइ॥

(रा०च०मा० २।२३१।८, २।२३१)

सेवकको केवल अपने स्वामीके सुखकी चिन्ता होती है। दूसरे किसी भी सम्बन्धसे उसे उतना लगाव नहीं होता है। चित्रकूट-यात्राके समय मुनि भारद्वाजसे संवाद करते हुए भरतजी स्पष्टरूपसे अपने मनकी बात बताते हैं कि उन्हें और किसी बात का दु:ख नहीं है, जो हुआ सो हुआ, पर मेरे भाई, मेरे स्वामी राम नंगे पैर वन-वन विचरण कर रहे हैं, एक यही दु:ख उनको इतना सता रहा है कि जिससे दिनमें भूख नहीं लगती और रात्रिमें नींद नहीं आती।

मोहि न मातु करतब कर सोचू। नहिं दुखु जियँ जगु जानिहि पोचू॥
नाहिन डरु बिगरिहि परलोकू। पितहु मरन कर मोहि न सोकू॥
सुकृत सुजस भरि भुअन सुहाए। लछिमन राम सरिस सुत पाए॥
राम बिरहँ तजि तनु छनभंगू। भूप सोच कर कवन प्रसंगू॥
राम लखन सिय बिनु पग पनहीं। करि मुनि बेष फिरहिं बन बनहीं॥
अजिन बसन फल असन महि सयन डासि कुस पात।
बसि तरु तर नित सहत हिम आतप बरषा बात॥

एहि दुख दाहँ दहइ दिन छाती। भूख न बासर नीद न राती॥

(रा०च०मा० २।२११।४—८, २।२११, २।२१२।१)

सेवकके कठोर धर्मकी एक परीक्षा यह भी है कि वह अपने स्वामीके दोष नहीं देखता। चाहे उसका स्वामी सम्मान करे या तिरस्कार, वह समभावमें रहते हुए हर परिस्थितिमें अपनेको ही दोषी मानता है और सदा अपने स्वामीके प्रति निष्ठावान् रहता है। भरतजी ऐसा ही सोचते हैं। श्रीरामचरितमानसकी इन चौपाइयोंमें उनका यह भाव झलकता है—

जौं परिहरहिं मलिन मनु जानी। जौं सनमानहिं सेवकु मानी॥
मोरें सरन रामहि की पनही। राम सुस्वामि दोसु सब जनही॥

(रा०च०मा० २।२३४।१-२)

अर्थात् भरतजी कहते हैं—चाहे मलिन-मन जानकर मुझे त्याग दें, चाहे आपका सेवक मानकर मेरा सम्मान करें; मेरे तो श्रीरामचन्द्रजीकी जूतियाँ ही शरण हैं। श्रीरामचन्द्रजी तो अच्छे स्वामी हैं, दोष तो सब दासका ही है।

सेवककी स्वामीके प्रति त्यागकी भावना सर्वोपरि होती है। चित्रकूटमें जिस समय गुरु वसिष्ठ श्रीरामजीके अयोध्या लौटनेके विभिन्न पहलुओंपर विचार कर रहे थे, उस समय उन्होंने यह सुझाव भरतजीके सम्मुख रखा कि श्रीरामजीके स्थानपर तुम वनको चले जाओ। भरतजीने इस प्रस्तावको सहर्ष स्वीकार करते हुए कहा कि चौदह वर्षकी बात ही क्या, वे पूरा जीवन वनमें बिता देंगे। इससे अधिक उनका हित और किसीमें नहीं हो सकता।

कहहिं भरतु मुनि कहा जो कीन्हे। फलु जग जीवन्ह अभिमत दीन्हे॥
कानन करउँ जनम भरि बासू। एहि तें अधिक न मोर सुपासू॥

(रा०च०मा० २।२५६।७-८)

भरतजीके सम्पूर्ण समर्पणकी पराकाष्ठा उस समय दृष्टिगोचर होती है, जब वे चित्रकूट-स्थलीमें श्रीरामजीके आश्रममें दण्डवत् प्रणाम करते हुए उनके चरणोंमें गिर पड़ते हैं—

पाहि नाथ कहि पाहि गोसाईं। भूतल परे लकुट की नाईं॥

(रा०च०मा० २।२४०।२)

इस समर्पणको देखकर श्रीरामजी उन्हें गलेसे लगानेके लिये प्रेममें इतने अधीर हो गये कि उनका कहीं पट गिरा, कहीं धनुष-बाण और कहीं निषंग। ऐसा प्रेमभाव श्रीरामजीके चरित्रमें अन्यत्र देखनेको नहीं मिलता है—

बचन सपेम लखन पहिचाने। करत प्रनामु भरत जियँ जाने॥
कहत सप्रेम नाइ महि माथा। भरत प्रनाम करत रघुनाथा॥
उठे रामु सुनि पेम अधीरा। कहुँ पट कहुँ निषंग धनु तीरा॥
बरबस लिए उठाइ उर लाए कृपानिधान।
भरत राम की मिलनि लखि बिसरे सबहि अपान॥

(रा०च०मा० २।२४०।३, ७-८, २।२४०)

गहन विचार-मन्थनके पश्चात् जब श्रीरामजी भरतजीको अयोध्या लौटनेको कहते हैं और उनको अपनी चरण-पादुकाएँ दे देते हैं, तब अपने स्वामीकी प्रसन्नतासे भरतजी परम प्रसन्न हो अयोध्या लौट आते हैं। श्रीरामजीकी खड़ाऊँ पाकर वे इतने प्रसन्न होते हैं मानो स्वयं श्रीरामजी अयोध्या लौट रहे हों।

भरतहि भयउ परम संतोषू। सनमुख स्वामि बिमुख दुख दोषू॥

(रा०च०मा० २।३०७।३)

प्रभु करि कृपा पाँवरीं दीन्हीं। सादर भरत सीस धरि लीन्हीं॥
भरत मुदित अवलंब लहे तें। अस सुख जस सिय रामु रहे तें॥

(रा०च०मा० २।३१६।४, ८)

जब सेवक अपने कठोर धर्मका पालन करते हुए अपने स्वामीके प्रति पूर्ण समर्पण दर्शाता है, तब फिर वह अपने जीवनमें निश्चिन्त हो जाता है, ठीक उसी तरह जैसे एक अबोध बच्चा अपनी माँ की गोदमें निश्चिन्त रहता है। उसकी चिन्ता उसकी माँको ही होती है। यह बात श्रीहनुमान्‌जीने श्रीरामजीसे अपने प्रथम मिलनमें कही है।

सेवक सुत पति मातु भरोसें। रहइ असोच बनइ प्रभु पोसें॥

(रा०च०मा० ४।३।४)

स्वामी-सेवकके सम्बन्धका एक दूसरा पहलू भी है, जिसका श्रीरामचरितमानसमें उल्लेख है, विचारणीय है। यदि सेवक अपने धर्मका त्याग करके शठतापर उतर आता है, तब वह स्वामीके लिये शूलके समान दुःखदायी

हो जाता है। सुग्रीवसे मित्रता स्थापित करनेके पश्चात् श्रीरामजी उन्हें बताते हैं कि सेवक की शठता, राजाकी कृपणता, नारीकी कृतघ्नता और मित्रकी कपटता—ये चार शूलके समान दु:खदायी होते हैं।

सेवक सठ नृप कृपन कुनारी। कपटी मित्र सूल सम चारी॥

(रा०च०मा० ४।७।९)

स्वयं श्रीरामजी अयोध्यावासियोंको सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि वही सेवक मेरा प्रियतम है, जो मेरी आज्ञा माने।

सोइ सेवक प्रियतम मम सोई। मम अनुसासन मानै जोई॥

(रा०च०मा० ७।४३।५)

इस प्रकारसे सेवकका धर्म सबसे कठोर होता है; क्योंकि उसका परम धर्म यही है कि वह अपने स्वार्थका सर्वथा त्याग करके स्वामीके हित और प्रसन्नताका ध्यान रखते हुए उनकी आज्ञाका पालन करे। सच्चे सेवककी भूमिका निभानेमें भरतजीका चरित्र अतुलनीय है। यही कारण है कि गोस्वामी तुलसीदासजीने अयोध्याकाण्डको सम्पूर्ण करते समय लिखा है कि जो नियमपूर्वक भरतजीका चरित्र सादर सुनेंगे, उन्हें संसारके भोग-विलाससे विरक्ति होकर श्रीसीतारामजीके चरणोंमें प्रेम अवश्य ही हो जायगा।

भरत चरित करि नेमु तुलसी जो सादर सुनहिं।
सीय राम पद पेमु अवसि होइ भव रस बिरति॥

(रा०च०मा० २।३२६)

ब्रह्मसूत्रके अणुभाष्यमें भगवत्सेवाका स्वरूप

(शुद्धाद्वैत पुष्टिभक्तिमार्गीय वैष्णवाचार्य गोस्वामी श्रीशरद्कुमारजी महाराज)

महर्षि वेदव्यासप्रणीत ब्रह्मसूत्रपर श्रीवल्लभाचार्यजीने जो भाष्य बनाया वह 'अणुभाष्य' कहलाता है।* आचार्य वल्लभजीका अभिमत है कि जीव अणु और सेवक है। प्रपंचभेद (जगत्) सत्य है। ब्रह्म निर्गुण और निर्विशेष है। ब्रह्म ही जगत्‌के निमित्त और उपादानकारण हैं। गोलोकाधिपति श्रीकृष्ण ही वे ब्रह्म हैं। वे ही जीवके सेव्य हैं। जीवात्मा और परमात्मा दोनों शुद्ध हैं। इसीसे इस मतका नाम शुद्धाद्वैत पड़ा है। श्रीवल्लभाचार्यजीके मतानुसार सेवा द्विविध है—फलरूपा और साधनरूपा। सर्वदा श्रीकृष्णश्रवणचित्ततारूप मानसी सेवा फलरूपा एवं द्रव्यार्पण तथा शारीरिक सेवा साधनरूपा है। प्रीतिमार्ग ही सर्वश्रेष्ठ है। भगवान्‌में चित्तकी प्रवणता सेवा है। भगवान्‌का अनुग्रह ही पुष्टि है। पुष्टि ही चारों प्रकारके पुरुषार्थको सिद्ध करती है। पुष्टिसे जो भक्ति उत्पन्न होती है, वह पुष्टिभक्ति कहलाती है। यह भगवान्‌के विशेष अनुग्रहसे प्राप्त होती है।

ब्रह्मसूत्रका प्रणयन महर्षि वेदव्यासने ब्रह्मतत्त्वकी शास्त्रीय मीमांसा करनेके लिये किया है अर्थात् वेदादि शास्त्रोंमें ब्रह्मके स्वरूप-कार्यादिका निरूपण किस तरहसे हुआ है, उसका तुलनात्मक चिन्तन इसमें हुआ है। कुल चार अध्यायोंमें विभक्त ब्रह्मसूत्रमें भगवत्सेवा-सम्बन्धी विभिन्न सिद्धान्तोंका निरूपण विशेषरूपसे तृतीय अर्थात् साधनाध्यायमें हुआ है। यहाँ अणुभाष्यकी दृष्टिसे भगवत्सेवासे सम्बन्धित कुछ विषयोंपर विचार किया जा रहा है—

(१) सेव्य—'...सा काष्ठा सा परा गतिः॥' (कठोप० १।३।११), **'परं ब्रह्मैतद् यो धारयति... भजति सोऽमृतो भवति'**, **'तयोरैक्यं परं ब्रह्म 'कृष्ण' इत्यभिधीयते'** तथा **'यस्मात् क्षरमतीतोऽहं...प्रथितः पुरुषोत्तमः'** (गीता) एवं **'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्'** (श्रीमद्भा०)—इत्यादि श्रुति-स्मृति-पुराणोंके वचनोंसे यह सिद्ध होता है कि परमकाष्ठा-परागतिरूप, क्षराक्षरातीत

* श्रीवल्लभाचार्यजीने ब्रह्मसूत्रपर अणुभाष्य, श्रीमद्भागवतकी व्याख्या सुबोधिनी, सिद्धान्तरहस्य, भागवतलीलारहस्य, एकान्तरहस्य, अन्त:करणप्रबोध, आनन्दाधिकरण, निरोधलक्षण आदि ग्रन्थोंका प्रणयन किया है।

पुरुषोत्तमाख्य मूल तत्त्व भगवान् कृष्ण ही हैं '**परं ब्रह्म तु कृष्णो हि**', अतएव भजनीय भी वे ही हैं और वे ही सेव्य हैं। '**अथातो ब्रह्मजिज्ञासा**' (ब्रह्मसूत्र १।१।१)-से उसी श्रुतिसारभूत तत्त्वकी जिज्ञासा ब्रह्मसूत्रमें की गयी है। इसी कारण पुष्टिमार्गमें कृष्ण ही परम सेव्य तथा परम भजनीय हैं।

'**कृष्णसेवा सदा कार्या**'—इसकी विवृतिमें प्रभुचरण लिखते हैं—'**अत्र मूलनामोक्त्या स्वतन्त्र-पुरुषार्थत्वेन सेवाकृतिः स्वसिद्धान्तः न तु अन्यशेषत्वेन इति ज्ञाप्यते।**'

आचार्यचरणद्वारा 'कृष्णसेवा' पदमें 'कृष्ण' इस मूल नामका प्रयोग करना इस आशयको ध्वनित करता है कि भगवत्सेवाको किसी अन्य फलकी प्राप्तिका साधन नहीं मानना चाहिये, भगवत्सेवाको स्वतन्त्रपुरुषार्थरूपा अर्थात् फलरूप मानकर ही सेवा करनी चाहिये।

(२) कृष्णसेवा और प्रतीकोपासना—जल, अग्नि, मूर्ति आदि विभिन्न रूपोंमें वरुण, अग्नि, शिव आदि देवोंकी उपासना प्रसिद्ध है, पुष्टिभक्तिमार्गमें भी कृष्णमूर्तिकी सेवा की जाती है, शास्त्रमें इन मूर्तिरूपोंमें तत्तद्देवोंकी उपासना-भक्तिसे प्राप्त होते फलमें कहीं तो क्षयिष्णु फलका निरूपण प्राप्त होता है तो कहीं अनावृत्तिरूप फलका विधान देखनेको मिलता है, '**न प्रतीके न हि सः**' '**ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षात्**' (ब्रह्मसू० ४।१।४-५) सूत्रोंसे सूत्रकार इसका समाधान देते हैं कि शास्त्रमें प्रतीकोपासना उत्तम नहीं मानी गयी है, अतः प्रतीकोपासनासे अनावृत्तिरूप मोक्षफलकी प्राप्ति नहीं होती है, उपासनाका उत्तम प्रकार सेव्यमूर्तिको भगवान्का प्रतीक मानकर ही नहीं, अपितु उसे साक्षात् भगवान् मानकर सेवा करना है। ब्रह्मवादके सिद्धान्तानुसार चराचर सम्पूर्ण जगत्सृष्टि ब्रह्मका ही परिणाम होनेसे यहाँ अब्रह्मात्मक कुछ भी नहीं है, अतएव सेव्यमूर्तिको साक्षात् भगवान् समझकर जो उनकी सेवा करता है, उसके द्वारा होती सेवाको प्रतीकोपासना नहीं कहा जा सकता है। इसी निर्णयके आधारपर आचार्यचरणने साम्प्रदायिक सेवामें कृष्णमूर्तिकी सेवाका सिद्धान्त स्थापित किया है। कृष्ण परब्रह्म-मूल तत्त्व होनेके कारण '**सर्वं खल्विदं ब्रह्म**' '**आत्मैवेदं सर्वम्**' श्रुतिवचनोंसे उन्हींकी स्वाभाविकी सत्ता जगत्के सभी नाम-रूपोंमें होती है, कृष्णमूर्ति और देवतान्तर या अवताररूपोंकी मूर्तिमें यह भेद है कि कृष्णमूर्तिमें तो साक्षात् मूलरूपका आवेश होता है, जबकि अन्य मूर्तियोंमें श्रीकृष्णके अंशरूप देवता अथवा अंश-कलाके अवताररूपोंका आवेश होता है। अतएव सेवा तो मूलरूपकी ही करनी चाहिये—यही सम्प्रदायसिद्धान्त है।

(३) रहस्यभजन करनेवालेकी श्रेष्ठता—मोक्षप्राप्तिकी कामनासे की जानेवाली भक्ति और उससे निरपेक्ष भक्तिके फलमें तारतम्य बतलाते हुए सूत्रकार '**उपपन्नस्तल्लक्षणार्थोपलब्धेर्लोकवत्**' (ब्रह्मसू० ३।३।३०)-में यह प्रतिपादन करते हैं कि जैसे लोकमें स्वाधीनभर्तृका पत्नी अपने पतिको ही फलरूप मानती है, उसके लिये तो उसका पति ही सर्वस्व होता है, वह पतिको स्नेह और उसकी सेवा पतिसे वस्त्र-आभूषण-धनादि प्राप्त हों, इस कामनासे नहीं करती है। उसी तरह रहस्यभजन करनेसे भगवद्रूप पुरुषार्थकी स्वाधीनता उपलब्ध होनेसे मुमुक्षुकी तुलनामें रहस्यभजन करनेवाला श्रेष्ठ है, ऐसे भक्तोंके लिये भी भगवान् ही उनके सर्वस्व होते हैं, उनके मनमें भक्ति स्वर्गापवर्गकी कामना नहीं होती है।

(४) प्रेमसेवा—प्रेमकी आवश्यकताको समझाते हुए श्रीपुरुषोत्तमचरण कहते हैं—'भक्तिमार्गमें फल भगवान् ही होते हैं, भगवान् प्रसन्न होनेपर आविर्भूत होते हैं, भगवान्का आविर्भाव वरणके अधीन होता है, वरण भगवान्के अधीन होता है और भगवान् स्वयं प्रेमके अधीन होते हैं, अतः सबसे श्रेष्ठ साधन प्रेम ही है'—'**भगवांश्च प्रेमाधीन इति प्रेमैव साधनम्।**'

'**अपि च संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्**' (ब्रह्मसू० ३।२।२४) और '**आसीनः सम्भवात्**' (ब्रह्मसू० ४।१।७)-में यही निर्णय दिया गया है कि 'संराधन' अर्थात् अनन्य होकर प्रभुकी प्रेमपूर्विका सेवा करनेसे भगवत्साक्षात्कार होता है।

'**प्रेम्णा सेवा तु सर्वत्र**', '**प्रेम च साधनम्**'

इत्यादि वचनोंद्वारा प्रेमसहित भक्तिमार्गीय साधनोंको करनेपर आचार्यचरणोंने जोर दिया है।

(५) सदा सेवा—'सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते। अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम॥' इत्यादि शास्त्रवचनोंमें भगवद्भक्तिके माहात्म्यका ऐसा प्रतिपादन किया गया है कि एक बार किये गये आत्मनिवेदनसे ही भक्तको अभयकी प्राप्ति हो जाती है, दूसरी ओर **'यथा यथात्मा परिमृज्यतेऽसौ... तथा तथा पश्यति तत्त्वसूक्ष्मम्'** इत्यादि शास्त्रवचनोंमें उनको बारम्बार स्मरण करनेका उपदेश प्राप्त होता है, इस स्थितिमें क्या करना चाहिये—यह सन्देह होता है।

उपर्युक्त सन्देहका निवारण करते हुए **'आवृत्तिरसकृदुपदेशात्' 'लिङ्गाच्च'** (ब्रह्मसू० ४।१।१, २) सूत्रमें यह सिद्धान्त स्थिर किया गया है कि श्रवणादि नवविध भक्तियोंको बारम्बार करना चाहिये। उक्त सिद्धान्तको आचार्यचरणोंने—**'कृष्णसेवा सदा कार्या'** (सिद्धान्तमुक्तावली), **'तस्मात् सर्वात्मना नित्यं... वदद्भिरेव सततं स्थेयम्'** (नवरत्नम्), **'सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो ब्रजाधिपः'** (चतुःश्लोकी), **'श्रवणं भजनं चापि न त्याज्यम् इति मे मतिः'** (चतुःश्लोकी)।

—इत्यादि वचनोंमें स्फुट किया है।

(६) बाधक गृहादिकी भगवदुपयोगितया साधकता—घर-धन-परिवार आदि अहन्ता-ममताद्वारा काम-क्रोधादिके जनक होकर संसाराभिनिवेशको बढ़ानेवाले होते हैं। अतः **'गृहं सर्वात्मना त्याज्यम्' 'धनं सर्वात्मना त्याज्यम्' 'हित्वात्मपातं गृहमन्धकूपम्'** इत्यादि वचनोंसे उनका त्याज्य होना सर्वत्र कहा गया है, ऐसा होनेपर भी भक्तोंके चरित्रोंमें ऐसा देखा जाता है कि गृहादिमें रहते हुए भी भगवान्ने उनको ज्ञानाधिक फल दिया है, इस विरोधका सूत्रकारने समाधान **'कामादीतरत्र तत्र चायतनादिभ्यः'** (ब्रह्मसू० ३।३।३९) सूत्रसे किया है।

पुष्टिभक्तिमार्गमें तो सर्वस्वके निवेदनपूर्वक ही घर-धन परिवारादि सकल पदार्थोंका यथायोग्य भगवत्सेवामें उपयोग होता है, इस तरह उन सबका भगवान्के साथ सम्बन्ध होनेसे उनकी बाधकता समाप्त होती है, भाष्यकार लिखते हैं कि आत्मनिवेदनपूर्वक कृष्णसेवा करनेवालेका घर भगवद्गृह ही होता है। ब्रह्मसूत्रोक्त इसी सिद्धान्तको लक्ष्यमें रखकर आचार्यचरणोंने भक्तिवर्धिनी ग्रन्थमें **'गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः'** अपने-अपने घरमें प्रभुको पधराकर, अपने घरको प्रभुका घर बनाकर, प्रभुकी सर्वस्वसमर्पण पूर्वक सेवा करनेका आदेश दिया है।

(७) सर्वस्वसमर्पण और गृहसेवा—प्रचुर भगवद्भाववाले भक्तको विरहानुभवार्थ गृहत्याग कर देना चाहिये। इसका निरूपण **'बहिस्तूभयथापि स्मृतेराचाराच्च'** (ब्रह्मसू० ३।४।४३) सूत्रमें हुआ है, जो भक्त, किंतु वैसे भाववाले नहीं होते हैं, उनको भगवद्धर्मका पालन कैसे करना चाहिये। इस जिज्ञासाका समाधान **'कृत्स्नभावात्तु गृहिणोपसंहारः'** (ब्रह्मसू० ३।४।४८)-से किया गया है।

छान्दोग्योपनिषद्में बताया गया है कि ब्रह्मचारीको गृहस्थधर्ममें प्रवेश करके अपने देह-इन्द्रियादि तथा घर-धन-परिवारादि सबका प्रभुकी सेवामें समर्पण करना चाहिये। घरमें प्रभुको पधराकर सेवा करनेसे तो न केवल सभी इन्द्रियाँ ही, अपितु घर-धन-परिवार-सेवक-पशु आदि भी प्रभुसेवामें समर्पित हो जाते हैं। आचार्यचरणोंने **'गृहे स्थित्वास्वधर्मतः'** (भक्तिवर्धिनी) आदिमें स्वसर्वस्वनिवेदनपूर्वक स्वगृहमें श्रीकृष्णकी **'तनुवित्तजा'** सेवाका जो उपदेश दिया है, उसको इसी सन्दर्भमें समझना चाहिये।

(८) भावसंगोपन—'अनाविष्कुर्वन्नन्वयात्' (ब्रह्मसू० ३।४।५०) सूत्रमें महर्षि वेदव्यास यह निर्णय देते हैं कि भगवद्भक्तोंको वर्णाश्रमादि शास्त्रीय धर्मोंका पालन किस दृष्टिसे करना चाहिये।

स्वगृहमें भगवत्सेवा करनेवालेको वर्णाश्रमादिके विधि-निषेधोंका पालन करनेको जो कहा गया है, वह इसलिये नहीं कि उसका पालन न करनेसे भगवद्भजनमें किसी तरहकी अपूर्णता आदि है, श्रुति ऐसा विधान इसलिये कर रही है; क्योंकि भगवद्भावके गुप्त रहनेपर ही उसीकी अभिवृद्धि होती है, भगवद्भावके प्रकट हो जानेपर तो वह भक्ति मिटाकर कोरा कर्मकाण्ड रह जाता

है अथवा पाखण्ड बन जाती है, अतः भगवद्भावको लोकमें गुप्त रखनेके लिये भक्तको सर्वसाधारण मनुष्योंकी तरह वर्णाश्रमादि धर्मोंका आचरण करना चाहिये, ऐसा करनेसे लोकमें प्रसिद्धि भक्तके रूपमें न होकर अन्य वर्णाश्रमीकी तरह ही रहेगी और इसका भक्तस्वरूप छिपा रहेगा।

(९) भगवद्भक्तोंको कर्म करने चाहिये या नहीं ?—अम्बरीष, उद्धव, पाण्डव आदि भक्तोंने कर्म किये थे, जब कि शुकदेव, भरत आदि भक्तोंने कर्म नहीं किये थे, इस स्थितिका क्या निर्णय किया जाय?

'**तन्निर्धारणानियमस्तद्दृष्टेः पृथग्घ्यप्रतिबन्धः फलम्**' (ब्रह्मसू० ३।३।४२) सूत्रमें भगवद्भक्तोंको कर्म करने चाहिये या नहीं इस सम्बन्धमें निर्णय दिया गया है, समाधान यह है कि भक्तोंको वस्तुतः कर्म करने आवश्यक नहीं हैं तथापि जिनको वैसी भगवदिच्छाका ज्ञान हो, उनको ही कर्मोंका त्याग करना चाहिये अन्यथा तो '**लोकसंग्रहमेवापि सम्पश्यन्कर्तुमर्हसि॥**' (गीता ३।२०) भगवान्‌के वचनसे भक्तोंको भी कर्म करने आवश्यक हैं ही। आचार्यलोगोंने भी इसी सिद्धान्तको स्वीकार किया है।

(१०) लौकिक कर्मविषयक निर्णय— '**आदरादलोपः**' '**उपस्थितेऽतस्तद्वचनात्**' तथा '**सर्वथापि त एवोभयलिङ्गात्**' (ब्रह्मसू० ३।३।४०, ४१; ३।४।३४) इत्यादि सूत्रोंसे भगवद्धर्मके सामने शास्त्रीय कर्मोंकी गौणता कह देनेके पश्चात् लौकिक कर्मोंकी गौणता, यद्यपि सुतरां सिद्ध हो ही जाती है तथापि अधिकारभेद अथवा अवस्था-कक्षाके भेदसे भक्तिमार्गियोंको भी लौकिक कर्म तो करने ही पड़ते हैं, अतः सूत्रकार '**ऐहिकमप्यप्रस्तुतप्रतिबन्धे तद्दर्शनात्**' (ब्रह्मसू० ३।४।५१)-से यह निर्णय देते हैं कि पूर्वोदाहृत श्रुतिमें '**धार्मिकान् विदधतः**' से ऐहिक कर्मोंको करनेके विषयमें जो निर्देश किया गया है, वह उनकी अनिवार्यताके आशयसे नहीं किया गया है, उक्त श्रुतिका आशय यह है कि यदि किसीके लिये उनका त्याग कर पाना सम्भव न हो तो उनको ऐसे समयमें करना चाहिये, जिससे कि भगवत्सेवामें प्रतिबन्ध न हो।

(११) सर्वेन्द्रियोंका भगवद्विनियोग— '**कृत्स्नभावात्तु गृहिणोपसंहारः**' (ब्रह्मसू० ३।४।४८) सूत्रमें भगवत्सेवाका यह कहकर उत्कर्ष सिद्ध किया गया है कि त्यागमें केवल मन-वाणीका ही भगवद्विनियोग प्रभुके स्मरण-कीर्तनद्वारा हो पाता है, जबकि अपने घरमें भगवत्सेवा करनेवालेकी तो सभी इन्द्रियोंका साक्षात्-परोक्ष प्रकारसे प्रभुकी सेवामें होता है, इस दृष्टिसे सोचनेपर भगवद्‌भजनमें ही कृत्स्नता सिद्ध होती है।

अतएव अपने घरमें प्रेमपूर्वक प्रभुकी सेवा करनेवाले भक्त उसीमें परमानन्दका अनुभव करते हुए उसके सामने मुक्तिको भी तुच्छ मानते हैं। अतः सकल वेदका तात्पर्य पुष्टिभक्तिमार्गीय प्रकारसे प्रभुकी सेवा करनेमें ही है यह सिद्ध होता है।

आचार्यचरणोंने भी इसी सिद्धान्तको आत्मसात् करते हुए सकलेन्द्रियोंका भगवद्विनियोग जिसमें सम्भव हो पाये, ऐसी स्वगृहमें स्वतनुवित्तके प्रभुमें विनियोगवाली भगवत्सेवाकी प्रणाली दिखलायी है।

(१२) व्यर्थ त्यागकी तुलनामें समर्पणकी अधिकता—'**मौनवदितरेषामप्युपदेशात्**' (ब्रह्मसू० ३।४।४९) सूत्रमें यह सिद्ध किया गया है कि अपने घरमें प्रभुसेवा करनेवाला गृहस्थ भक्त संयम आदि धर्मोंका पालन संन्यासीसे भी अधिक करता है, यहाँ अधिकतासे तात्पर्य भगवदर्थ विनियोग या त्यागसे है, संन्यासीको विषयवैराग्य, मन-वाणी-इन्द्रियोंपर संयम आदिका विधान शास्त्र करता है, घरमें सेवा करनेवाले भक्तको भी इन सबका पालन करनेके लिये कहा गया है, भक्त जब उक्त धर्मोंका पालन करता है, तब वह उनको भगवत्सेवाका अंग मानकर करता है, यही भक्तिमार्गका उत्कर्ष है। आचार्यचरण लिखते हैं— '**....व्यर्थत्यागापेक्षया भगवति समर्पणम् उत्तमम्।**'

(१३) स्वरूप-भावना—भगवान्‌ने अर्जुनको जब '**इमं विवस्वते योगं... स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः**' यह कहा तब भगवान्‌के दिव्य अलौकिक स्वरूपके ज्ञानका विस्मरण हो जानेसे अर्जुन

भगवान्‌से यह प्रश्न कर बैठा कि 'आपका जन्म तो सूर्यके जन्मके पश्चात् हुआ है, आपने यह उपदेश पहले सूर्यको किया था—यह कैसे समझा जाय?' अर्जुनकी शंकाके निवारणमें भगवान्‌ने उसको अपने दिव्य स्वरूपका ज्ञान करवाया, इसी तरह भगवत्सेवा करनेवालेके मनमें भी सेव्यस्वरूपके सम्बन्धमें विविध शंकाएँ हो सकती हैं, यथा—सेव्यरूप बालकृष्णका हो तो उनकी सेवा किशोर-प्रौढ आदि भावोंसे कैसे की जाय? अनवसरमें गोचारणार्थ प्रभुके पधारनेकी भावना और सन्ध्या-आरतीके समय वनसे घरमें पधारनेकी भावना भी कैसे की जाय? इसी तरह सेव्यस्वरूपके किशोर/प्रौढ आयुके होनेपर उनको पलनामें कैसे झुलाया जाय? इत्यादि।

उक्त शंकाओंका निराकरण व्यासचरण **'व्याप्तेश्च समञ्जसम्'** (ब्रह्मसू० ३।३।९) सूत्रसे करते हैं, तात्पर्य यह है कि साकारब्रह्म ही सर्वाकार होनेसे ब्रह्म सभी अलौकिक गुणधर्मोंको धारण करनेमें समर्थ है, अतएव भक्त भगवान्‌की जिस रूपमें जैसी भावनासे सेवा करता है, तदनुसार भगवान् सेवित-भावित होते हैं, ऐसा होनेपर भी उनकी सच्चिदानन्दात्मकतामें किसी तरहकी न्यूनता नहीं होती।

ब्रह्मसम्बन्धमात्रसे फलप्राप्ति नहीं होती—भगवान् जब किसी जीवसे स्वविचारित कोई कार्य करवाना चाहते हैं और वह कार्य लौकिक सामर्थ्यसे कर पाना जीवके लिये शक्य नहीं है—ऐसा यदि भगवान्‌को लगता है, तब भगवान् जीवको अपने ऐश्वर्यादि धर्मोंको देकर वह कार्य करवाते हैं, यहाँ विचार्य यह है कि क्या जीव उसको प्रदत्त भगवद्धर्मोंके सहारे मुक्त्यादि फलोंको प्राप्त कर लेता है या नहीं, यदि यह कहा जाय कि जब जीवद्वारा किये जाते श्रवणादि साधनोंसे भगवान् फलकी प्राप्ति करा देते हैं, तब भगवान्‌के धर्मोंसे तो फलकी प्राप्ति होनेमें शंका ही क्या हो सकती है, इस मान्यताका निराकरण सूत्रकारने **'यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम्'** (ब्रह्मसू० ३।३।३२)—इस सूत्रसे किया है।

तात्पर्य यह है कि भगवान् अलौकिक धर्मोंका जीवमें स्थापन तत्तत् कार्योंको करनेमात्रके लिये ही करते हैं, अतः उन धर्मोंकी जीवमें स्थिति उस कार्यकी सिद्धि होनेतक ही रहती है, उन धर्मोंसे जीवको फल प्राप्त हो, ऐसा भगवद्विचारित न होनेसे वे धर्म फलसाधक नहीं बनते हैं, फलकी प्राप्ति तो जीवोंको भगवद्भक्ति करनेसे ही होती है।

संत श्रीगाड़गेजी महाराजका सेवाभाव

महाराष्ट्रके प्रख्यात संत श्रीगाड़गेजी महाराज सेवा कार्यके लिये सदैव तत्पर रहा करते थे। वे अपने शिष्योंसे अक्सर कहा करते थे कि तीर्थयात्राका असली पुण्य उन्हें प्राप्त होता है, जो तीर्थस्थलोंमें फैली गन्दगीको साफ करनेका काम करते हैं। तीर्थका पुण्य उन्हें भी मिलता है, जो तीर्थयात्रियोंकी सेवा-सहायता करते हैं। गाड़गेजी महाराज किसी तीर्थस्थलमें पहुँचते तो वहाँ झाड़ू उठाकर स्वयं सफाई करने लगते। मन्दिरोंकी सीढ़ियाँ साफ करनेमें उन्हें अपूर्व संतोष मिलता था।

वर्ष १९०७ ई० की बात है। गाड़गेजी महाराज अमरावतीके समीप ऋणमोचनतीर्थमें लगनेवाले मेलेमें पहुँचे। उन्होंने नदीके किनारे एक स्थानपर एकत्रित गन्दे जलको अपने साथियोंके साथ उलीचकर बाहर निकाला और जमीन खोदकर नदीकी धारा वहाँतक पहुँचायी। अचानक गाड़गेजीकी माँ भी स्नानके लिये वहाँ आ पहुँचीं। उन्होंने पुत्रको सफाई करते देखा तो बोलीं—यह काम तो सफाईकर्मीका होता है, तुम क्यों कर रहे हो?

गाड़गेजीने विनम्रतापूर्वक कहा—माँ! श्रद्धालुओंकी सेवा एवं पवित्र तीर्थस्थलोंकी सफाई भी भगवान्‌की पूजा-उपासना ही है। मानव भगवान्‌का ही तो रूप है। बेटेके श्रद्धाभरे वचन सुनकर माँ गद्गद हो उठीं। गाड़गेजी महाराजने लोगोंको साफ-सफाई रखनेका संकल्प दिलाया। [अमर उजालासे साभार]

कहानी—

सेवा

(श्री 'चक्र')

'यहाँ कोई धर्मात्मा है?' इस युगमें बड़ा अटपटा प्रश्न है यह, किंतु ये बाबाजी लोग कहाँ सीधे ढंगसे बात करना जानते हैं। इनकी रहनी टेढ़ी, इनका वेश अटपटा, इनकी वाणी अटपटी और इनका आराध्य टेढ़ी टाँगवाला। भला यह भी कोई बात हुई कि कोई भरी भीड़से पूछने लगे कि 'उसमें कोई भला आदमी है?'

अकाल पड़ा है। पिछले वर्ष इन्द्रदेवने इतनी अधिक कृपा की कि भूमिमें पड़ा बीज उगकर भी सड़ गया। अतिवृष्टि किसी प्रकार झेल ली गयी, किंतु इस वर्ष तो मेघोंके देवता भूल ही गये हैं कि इस ओर भी उनकी सेना आनी चाहिये। इस प्रदेशमें भी प्राणी रहते हैं और उन्हें भी जल ही जीवन देता है। आषाढ़ निकल गया तबतक आशा थी; किंतु अब तो श्रावण भी सूखा ही समाप्त होने जा रहा है।

घरोंमें अन्न नहीं है। खेत और चरागाहोंमें तृण नहीं है। सरोवर सूख चुके हैं। कूपोंमें कीचड़ मिला पानी प्यास बुझानेके लिये रह गया है। कितने दिन वह भी काम चला सकेगा? ऐसी अवस्थामें पशु कितने मरे, कौन गिने। जिसे जहाँ सूझा, वह उधर निकल गया परिवार लेकर। पूरा प्रदेश उजड़ने लगा है। वृक्षोंके पत्ते और छाल जब आदमीका आहार बनने लगें, विपत्ति कितनी बड़ी है, कोई भी समझ सकता है। सरकारी सहायता आयी है। कुछ संस्थाएँ भी सेवाके क्षेत्रमें उतरी हैं; किंतु तप्त तवेपर कुछ शीतल बूँदें पड़कर अधिक उष्णता ही तो उत्पन्न करती हैं।

यज्ञ-अनुष्ठान तो हुए ही, अनेक लोकप्रचलित टोटके भी हुए; किंतु गगनके नेत्रोंमें अश्रु उतरे नहीं। देवता रुष्ट हुए सो तुष्ट होनेका नाम ही नहीं लेते। ऐसे समयमें सबसे भारी विपत्ति आती है भिक्षुकोंपर। वे बेचारे बहुत पहले भाग गये। किंतु कुछ अक्खड़ होते हैं। हनुमत्-टीलेके बाबा बजरंगदास ऐसे ही अक्खड़ हैं। उनकी कुटिया तो आजकल क्षुधार्तोंके लिये कल्पवृक्ष बन गयी है। मध्याह्नमें पवन-पुत्रको नैवेद्य अर्पित करके सदाकी भाँति अब भी बाबाजी उच्चस्वरसे 'भण्डारमें भगवत्प्रसादकी सीताराम!' घोषित करते हैं और उस समय जो कोई भोजनके लिये आ जाय, उसे अपने-आप पंगतमें बैठनेका अधिकार है। इन दिनों प्रतिदिन दो-ढाई सौ व्यक्ति भोजन करते हैं।

पता नहीं कहाँसे आता है इतना अन्न इन जटाधारीके पास। पूछनेपर एक दिन कहने लगे—'यह टेढ़ी टाँगवाला गदाधारी देवता किसलिये यहाँ खड़ा है। भूमिमें अन्न नहीं होगा तो देशका प्रशासक भूखों मरेगा; किंतु हनुमन्तलालके लाड़िलोंके लिये आकाशको अन्नकी वर्षा करनी होगी।'

ऐसे अडिग अक्खड़ अवधूतने जब आसपास सबको सूचना भेजकर कुटियापर बुलवाया, बड़ी आशा हो गयी थी ग्रामके श्रद्धाप्राण लोगोंको। अवश्य बाबाजी इस दैवी विपत्तिका कोई उपाय पा चुके हैं। किंतु जब सायंकाल श्रीहनुमान्‌जीके सम्मुख आसपासके आठ गाँवोंके लोग एकत्र हो गये तो बाबाजी पूछते हैं—'यहाँ कोई धर्मात्मा है?'

कोई और धर्मात्मा हो या न हो, बाबाजी तो हैं। अब देवताके सम्मुख झूठ भी कोई कैसे बोले। धोतीके भीतर सभी नंगे। किससे कुछ ऊँचा-नीचा नहीं होता है। किंतु बाबाजी तो एक-एककी ओर देखने लगे हैं। चुपचाप नेत्र नीचे कर लेनेके अतिरिक्त किसीके पास और क्या उपाय है।

'श्रीमारुति प्रभुका आदेश है कि यहाँ इस प्रदेशमें जो एकाकी धर्मात्मा है, उसका आश्रय लिया जाय।' बाबाजी कह रहे थे—'केवल वही इस अकालको टाल सकता है। उसके असम्मानके कारण यह विपत्ति आयी है। देवता भी धर्मका आश्रय लेनेवालेका अपमान करके कुशलपूर्वक नहीं रह सकते हैं।'

'कौन हैं वे?' सबके हृदय सोचने लगे हैं। कोई भी तो ध्यानमें नहीं आ रहा है। कोई साधु आसपास अब इन महाराजको छोड़कर रहे नहीं। जो दो-तीन कुटिया

बनाकर रहते भी थे, तीर्थयात्रा करने चले गये हैं। कोई ब्राह्मण, कोई विद्वान्, कोई अहीर, काछी आदि भगत—लेकिन इनमेंसे किसीका अपमान होनेकी बात तो सुनी नहीं गयी। ऐसे व्यक्तियोंके प्रति तो ग्रामके लोगोंकी सहज श्रद्धा है। अब इस अकालके समयमें किसीको कुछ देनेसे किसीने मना कर दिया हो तो हो सकता है; किंतु क्या विवश मनुष्यका यह ऐसा अपराध है कि उसपर इतना भयंकर देवकोप पूरे प्रदेशको भोगना पड़े?

'श्रीहनुमान्‌जीने कहा है कि उसका पता लगाना होगा।' बाबाजीको स्वप्नमें आदेश हुआ है, यह वे बता गये। उन्होंने यह भी कह दिया कि इससे अधिक स्पष्टीकरणकी आशा अब करना नहीं चाहिये। देवताओंको परोक्ष-कथन ही प्रिय है। 'आप सब प्रयत्न करें। मैं भी कल प्रात:कालसे पता लगानेमें लगूँगा।'

× × ×

'तुमने कैसे सीखा इस अद्भुत उपासनाको?' बाबा बजरंगदास आज इस हरिजन बस्तीके एक कोनेपर बनी झोपड़ीके द्वारपर आ गये हैं। श्रीपवनकुमारने जिनका संकेत किया, वे धर्मात्मा कौन हैं, यह पता लगानेकी धुन है उन्हें। जो आस्तिक नहीं है, भगवान्‌में जिसकी आस्था नहीं है, वह तो धर्मात्मा हो नहीं सकता। गाँवोंमें बसनेवाले लोग एक-दूसरेसे अच्छी प्रकार परिचित होते हैं। बाबा बजरंगदास प्राय: आसपासके ग्रामीणोंको व्यक्तिगत रूपसे जानते हैं। उनमें जहाँ भी कुछ आशाकी जा सकती थी, सबके समीप वे हो आये हैं। आज अचानक उन्हें स्मरण आया कि द्विजाति तथा दूसरे लोगोंसे मिलनेकी धुनमें उन्होंने हरिजन-बस्तियोंकी ओर ध्यान ही नहीं दिया है। स्मरण आते ही वे चल पड़े थे इस झोपड़ीकी ओर।

पूरी चमारटोलीकी झोपड़ियाँ सटकर बनी हैं; किंतु यह झोपड़ी सबसे थोड़ी दूर है। केवल नाम ही इस झोपड़ीके स्वामीका अलगू नहीं है, वह दूसरोंसे सब बातोंमें कुछ भिन्न है। गाँवोंकी हरिजन-बस्तियोंमें आजकल दो भगत हैं। वे भूमिपर सोते हैं। अपने हाथसे बना भोजन और अपने हाथसे खींचा जल काममें लेते हैं। किंतु बाबा बजरंगदास उन्हें जानते हैं। वैसे भी वे लोग प्राय: प्रतिदिन हनुमत्-टीलेपर पहुँचते हैं। लेकिन अलगू सबसे भिन्न है। उसे अपने लँगड़े बछड़ेसे ही अवकाश नहीं कि कहीं आये-जाय। उसका स्मरण आते ही बाबाजी चौंके थे।

सुनते हैं कि बेटेका ब्याह करके अलगूका बाप मरा था, किंतु स्त्री टिकी नहीं। वह कहीं और चली गयी। अलगू तबसे अकेला है। जूते बनाकर पेट पाल लेता रहा है वह; किंतु अब यह धन्धा भी चल नहीं रहा है। अपनी झोपड़ीमें वह अकेला है, यदि उसके लँगड़े बछड़ेको आप उसका साथी न गिनें। अब वह लकड़ियाँ चुनता है, उपले लगाता है और कुछ न मिले तो शीशमके पत्ते, झरबेरी, बेल, उदुम्बरके पके फलोंसे अपना काम चला लेता है।

एक गाय थी अलगूके; किंतु अति वृष्टिमें वह भी ठण्डसे अकड़कर चल बसी। गायके बछड़ेका एक पैर बचपनमें ही टूट गया दौड़ते समय किसी दरारमें पड़कर। किसी काम आ सके, ऐसा वह रहा नहीं; किंतु अलगू तो उसे देवता मानता है। पहले वह गायकी पूजा करता था, तब कुछ समझमें आनेकी बात भी थी। गौ माता हैं। विद्वान् पण्डित लोग भी गायको हाथ जोड़ते हैं। गायकी पूजा करते भी लोगोंको देखा गया है। किंतु लँगड़े बछड़ेकी पूजा होती कहीं किसीने सुनी है? गाय मरी तो अलगू उसके बछड़ेकी पूजा करने लगा। वह कहता है—'गाय देवी माता हैं तो उनका बेटा देवता कैसे नहीं है!'

आजकल फूल कहीं मिलते नहीं। अलगू आम, नीम या शीशमके पत्तोंकी माला ही बछड़ेको पहना देता है। वह उसके चारों खुर धोकर पीता है। बछड़ेको दण्डवत् करता है। बछड़ेके छोड़े घास-पत्तोंमेंसे कुछ-न-कुछ पत्ते खा लिया करता है। रातमें बछड़ेके पास ही भूमिपर सोता है। बछड़ा गोबर करे या मूत्र—तुरंत स्वच्छ करेगा। अपने गमछेसे बछड़ेको पोंछता रहेगा। बछड़ा हुंकार करे तो दोनों हाथ जोड़कर उसके सामने सिर झुकायेगा।

लोग अलगूका परिहास करते हैं। बाबा बजरंगदासने उसकी बातें सुनी हैं। बहुत लोग उसे 'बछड़ा भगत' कहकर चिढ़ाते हैं। इस वर्ष कुओंका जल घटने लगा, किंतु अलगूकी कुइयाँमें पानी आज भी नहीं घटा है। हरिजनबस्तीमें सरकारी कुआँ दो वर्ष पहले बना है। उससे पहले हरिजन गाँवके बाहरके कुएँसे पानी लाते थे। पानी लाने गया था अलगू उस कुएँपर तो गाँवके ठाकुरोंके खेतमें पानी जा रहा था उस कुएँसे। अलगूने मोटका पानी न लेकर कुएँसे खींचना चाहा तो ठाकुरने कुछ कहा-सुना। लौटकर अलगू यह कच्ची कुइयाँ खोदनेमें लग गया था। सात दिनमें इस कुइयाँमें पानी आ गया था और हरिजनोंके लिये पक्का कुआँ बननेतक यह कुइयाँ हरिजनोंकी पूरी बस्तीको जल पिलाती थी। अब थोड़ी-सी भूमि घेर रखी है अलगूने। दूसरा कोई होता तो उसमें चार बेल लगाता कुम्हड़े, तोरईकी; किंतु अलगू उसमें कभी ज्वार बोता है, कभी अरहर, कभी सन और कुछ न हो तो घास अपने बछड़ेका पेट भरनेको छोड़कर उसे दूसरी चिन्ता ही नहीं रहती। इस अकालमें भी उसका घेरा घाससे हरा है। सबेरे-शाम वह पानी खींच-खींचकर थक जाता है उस घेरेको गीला रखनेके लिये।

आज बाबा बजरंगदासको अचानक स्मरण आया है कि अलगू धर्मात्मा है। वह कहाँ कोई नौकरी-व्यापार करता है कि उसे कुछ काला-सफेद करनेको विवश होना पड़े। अचानक ही कल रात बाबा बजरंगदासने एक पोथी उलटते हुए पढ़ा—'वृषभ धर्मका रूप है।' उन्हें स्मरण आया कि पिछले वर्ष जो भागवती पण्डित आश्रमपर कथा बाँचने आये थे, उन्होंने भी कुछ ऐसा ही कहा था कि 'राजा परीक्षित्‌को बैलके रूपमें धर्मके दर्शन हुए। उस बैलके तीन पैर टूटे हुए थे।' अलगूका बछड़ा भी तो लँगड़ा है। उसके तीन पैर नहीं टूटे हैं तो क्या हुआ, वह पूरा धर्म नहीं सही, धर्मका रूप तो है। अलगू उस बछड़ेकी ही पूजा करता है। तब कहीं हनुमान्‌जीका संकेत..............।

अलगू तो हक्का-बक्का रह गया कि उसकी झोपड़ीके द्वारपर ये बाबाजी आये हैं। उसके पास तो उन्हें आसन देने योग्य भी कुछ नहीं है। दूर पृथ्वीपर सिर रखकर वह काँपता हुआ खड़ा हो गया है। बाबाजीकी दृष्टि अलगूके बछड़ेपर है। अब यह दो वर्षका बछड़ा बैल लगता है। गलेमें पत्तोंकी माला, मस्तकपर सफेद मिट्टीका टीका और पासमें गुग्गुलकी धूप जल रही है। अलगू अपनी पूजासे ही उठकर आया है। बाबाजीने फिर पूछा—'यह तुम्हें किसने बताया कि बछड़ेकी पूजा किया करो?'

'मुझ चमारको भला, कौन बतायेगा'—अलगू उसी प्रकार दीन स्वरमें बोला। 'बाप गायकी पूजा करता था। मैं भी बचपनसे वही करने लगा। एक बार काशीजी गया था। दशाश्वमेधघाटकी सीढ़ियोंपर एक नंगे संत रहते थे। कोयलेकी भाँति वे काले थे और उनकी आँखें लाल-लाल थीं। उन्होंने सीढ़ियोंपर ही एक काला बछड़ा लोहेकी जंजीरमें बाँध रखा था। बछड़ेके गलेमें फूलोंकी माला मैंने देखी थी। कोई बाबाजीको पूड़ी, मिठाई या फल देता था तो बछड़ेके आगे रख देते थे। बछड़ा खा लेता तो उसमेंसे बचा-खुचा स्वयं खा लेते। बछड़ा सूँघकर छोड़ देता था तो फेंक देते थे।'

'ओह, तो उन महात्माने तुम्हें यह बताया है। तुम उनके शिष्य हो।' बाबा बजरंगदासने श्रद्धापूर्वक कहा।

'वे तो मौन रहते थे। मुझ-जैसे पापी चमारको भला, वे चेला क्यों बनाते।' अलगू सहज भावसे बोला। 'मैं तो दूरसे उनके सामने मत्था टेककर चला आया था। मेरी गौ माता मर गयीं तो मुझे उन महात्माकी याद आ गयी। मैं गौ माताके बछड़ेकी सेवा करने लगा। एक बार एक पण्डितजीने बताया था कथामें कि कलियुगमें सेवा ही बड़ा धर्म है। मुझ नीच जातिसे आप-जैसे महात्मा या कोई ब्राह्मण तो सेवा करायेंगे नहीं, गौ माताके बेटेकी सेवा करता हूँ।'

'भाई अलगू! मैं साधु हूँ और तुम्हारे दरवाजेपर आया हूँ।' बाबा बजरंगदासने विनयके स्वरमें कहा।

'तुमसे भिक्षा माँगता हूँ। साधुको नहीं करोगे तो पाप होगा। तुमको कभी ठाकुरने गालियाँ दी थीं, उनको क्षमा कर दो।'

'इसमें क्षमाकी बात क्या है। चमारको तो बड़े लोग गाली देते ही हैं।' अलगू बड़ी दीनतापूर्वक बोला। 'महाराज! ठाकुर-ब्राह्मणोंकी गाली तो हमारे लिये आशीर्वाद है। आप कहाँकी कितनी पुरानी बात उठा लाये हैं। मैं तो उसी दिन भूल गया उस बातको।'

'तुम भूल गये; किंतु तुम्हारे ये धर्मदेवता नहीं भूले हैं। यह अकाल इस प्रदेशपर इनके कोपसे आया है।' बाबाजीने हाथ जोड़ दिये। 'मैं तुमसे क्षमा माँगने, प्रार्थना करने आया हूँ कि लोगोंपर, यहाँके पशु-पक्षी आदि सभी प्राणियोंपर दया करो। तुम इनसे प्रार्थना करोगे तो अवश्य वर्षा होगी।'

'महाराज! मेरे प्रार्थना करनेसे वर्षा हो जाय, लोगोंकी विपत्ति मिटे तो मैं क्यों प्रार्थना नहीं करूँगा। मैं ही क्या कम विपत्तिमें हूँ वर्षा न होनेसे?' अलगूने भूमिपर सिर रखा। 'किंतु आप मुझे अपराधी मत बनाओ। मुझे आप आशीर्वाद दो।'

बाबा बजरंगदासके बिदा होते ही अलगू अपने लँगड़े बछड़ेके पैरोंके पास हाथ जोड़कर बैठ गया—'देवता! तुम वर्षा करा सकते हो! वर्षा कराओ देवता! पानी बरसने दो। सबकी विपत्ति दूर होने दो। वह आँख बन्द किये बोलता जाता था। उसे पता भी नहीं था कि वायुका वेग कब बढ़ा। कब आकाश भूरे घने मेघोंसे ढक गया। उसने तो चौंककर तब बछड़ेके सम्मुख मस्तक रखा, जब मेघ-गर्जनके साथ झड़ीकी बूँदोंने द्वारसे आकर उसकी पीठ भिगो दी।'

सच्चरित्र और सेवा

(श्रीकृष्णनारायणजी राजपूत)

सेवा करनेकी योग्यता प्राप्त करनेके लिये मनुष्यको सबसे पहले दुश्चरित्र छोड़कर अपनेमें सच्चरित्रकी प्रतिष्ठा करनेका पूर्ण प्रयास करना चाहिये। चरित्रवान् होकर ही व्यक्ति सेवक बन सकता है। शील सेवाका अभिन्न अंग है। ज्ञानके आलोकमें सेवापथ सुगम हो जाता है तथा भगवद्भक्ति सेवाके लिये पूर्णता प्रदान करती है। स्वयं किसीसे सेवा न लेनेसे स्वयंमें सेवाभाव जाग्रत् हो जाता है। सेवा करनेसे जो सुख प्राप्त होता है, वह सुख सेवा करानेसे भी विशेष आनन्ददायी सिद्ध होता है। प्रत्येक मानवको सेवाका समय प्रत्येक परिस्थितिमें प्राप्त है। जैसे—भीष्मजीके गुरु भगवान् परशुरामजीने उनसे अपने साथ युद्ध करनेको कहा था। भीष्मने अपना कर्तव्य समझकर उनकी इस आज्ञाका पालन किया। उस समय भीष्मजीके द्वारा यह आज्ञापालनरूप सेवा हुई। इसलिये कहा गया है—***'आगम निगम प्रसिद्ध पुराना। सेवाधरमु कठिन जगु जाना॥'*** (रा०च०मा० २।२९३।७) अपनेसे बड़ोंके प्रति सानुकूलता ही सेवा है। पुत्री उमाको गोदमें लेकर माता मैना कहती हैं कि ***'करेहु सदा संकर पद पूजा। नारिधरमु पति देउ न दूजा॥'*** (रा०च०मा० १।१०२।३) मनमें पूज्योंके प्रति पहलेसे ही विशुद्ध सेवाभावना रखनेसे उनकी मूक-अज्ञात कृपासे परम सेवाका पावन अवसर मिलता है। उदाहरण—सीताजीने माता कौसल्याजीसे प्रार्थना की कि ***'सुनिअ माय मैं परम अभागी॥' 'सेवा समय दैअँ बनु दीन्हा। मोर मनोरथु सफल न कीन्हा॥'*** (रा०च०मा० २।६९।३-४) सास-ससुरके प्रति इस सेवाभावनासे सीताजीको कौसल्याम्बाकी अदृश्य कृपाशक्तिसे भगवान्की सेवा करनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ। सेवा सदैव निष्कामकर्मयोगसे ही बनती है और शास्त्रकी कृपासे यानी शिष्टाचारसे संगत होती है। अहंकारका स्वामी बनना ही भव (बन्धन) है और अहंकारको शनैः-शनैः सेवाके द्वारा प्रभुको समर्पित करना ही भवतरण है। इसीलिये मानसमें सेवक, सेव्य भावसे भवतरण

बताया है ***'सेवक सेब्य भाव बिनु भव न तरिअ उरगारि'*** (रा०च०मा० ७।११९ क)। सम्पूर्ण चराचर विश्वको स्वामी मानकर अपनेको उसका सेवक समझना ही अनन्य गति है—***'सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत। मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥'*** (रा०च०मा० ४।३) सेवा ही कल्याण है और कल्याणकर्ता कभी दुर्गतिको प्राप्त नहीं होता—**'न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति॥'** (गीता ६।४०) अपनी ओरसे दूसरोंके द्वारा करायी गयी सेवासे स्वयंके द्वारा की गयी सेवा ही महत्त्वपूर्ण सेवा है, तभी तो सीताजी घरमें सेवक-सेविकाओंके होते हुए भी सेवाका भार लिये हुए थीं—***'जद्यपि गृहँ सेवक सेवकिनी। बिपुल सदा सेवा बिधि गुनी॥', 'निज कर गृह परिचरजा करई। रामचंद्र आयसु अनुसरई॥'*** (रा०च०मा० ७।२४।५-६) कारण कि भगवत्सेवाको स्वधर्म-कर्म पालनकी आज्ञा दी हुई है—**'यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्। स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥'** (गीता १८।४६) ***'सोइ सेवक प्रियतम मम सोई। मम अनुसासन मानै जोई॥'*** (रा०च०मा० ७।४३।५) बुद्धिमानोंकी सेवा किये बिना शीलकी प्राप्ति भी नहीं होती है—***'सील कि मिल बिनु बुध सेवकाई॥'*** (रा०च०मा० ७।९०।६) जिस ज्ञानके प्रकाशमें सेवापथ प्रकाशित होता है, तत्त्वज्ञानी महापुरुष उस ज्ञानको प्रणिपातप्रच्छक सेवाभावुकके सामने ही प्रकट करते हैं—**'तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया। उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥'** (गीता ४।३४) सच्चरित्रकी रक्षा हर परिस्थितिमें सबको उचित और आवश्यक है। चरित्र वह चलन या क्रिया है, जिससे अपने ही आचरणसे भगवान् आपका त्राण कर देते हैं, जैसे—**'परित्राणाय साधूनाम्।'** सेवारत साधुका त्राण-रक्षा भगवान्‌का काम है। हमारे दैनिक जीवनमें भी सेवा-परोपकार साथ ही है। व्यक्तिकी सेवाका स्वरूप प्राप्त परिस्थिति और प्राप्त साधनोंके द्वारा बदलता रहता है, परंतु सेवाका एक महान् लक्ष्य विश्वकल्याण सदैव एक ही रहता है। किसीको कष्ट न पहुँचानेसे सेवा स्वाभाविकी हो जाती है। सेवामें कुछ कोर कसर (त्रुटि) रहनेपर ही सेवा भाररूप या तुच्छ लगती है। भगवान् श्रीकृष्णने तो महाराज युधिष्ठिरके राजसूययज्ञमें जूठी पत्तल उठाकर मानो सेवाको बड़प्पन प्रदान किया है। सेवा-सदाचार सबको सन्तुष्ट करनेवाले महान् वेदार्थ हैं। सेवा लेने-देनेमें सही निर्देश शास्त्रोंसे लेना चाहिये, तभी सेवाका स्वरूप सुसंयमित, सुरक्षित और संगठित रहता है। सकामकर्म सेवाकोटिमें नहीं है, किंतु अज्ञोंको सेवासाधनतक पहुँचानेके लिये सकामकर्म भी किसी अंशमें उपयोगी हो सकता है। सेवाधर्म कभी न निष्फल होनेवाला सफल प्रयोग है। सेवा-शिष्टाचारसे ही विश्वव्यवस्था सुचारुरूपसे चलती है।

मातृ-पितृसेवकोंमें श्रवणकुमारका अद्वितीय स्थान है। राजसेवकोंमें हरिश्चन्द्र आदिका। इनकी कथाओंका श्रवणकर भी मनुष्य तदनुकुल उत्तमसेवी बन जाता है। सच्ची सेवामें बनावटी स्वतन्त्रता नहीं होनी चाहिये। गायसे बढ़कर सेव्य कोई नहीं है। सेवा कोई-न-कोई रूप-रंग लेकर हमारे सामने आती ही है। सेवा जब आत्मस्वरूप होती है, तब उसका विलक्षण ही आनन्दरस होता है। सेवा एक उभयनिष्ठ साधन है, जो सेवक और सेव्य दोनोंको ही सुख प्रदान करता है। सेवा जब सरस होती हुई पराकाष्ठापर पहुँचती है तो वही भागवतधर्म है। भागवतधर्मका परिणाम समग्रसेवा—नित्यभगवत्प्राप्ति है। प्रथम सेवा कठिन लगती हुई भी पश्चात् सरलामृत हो जाती है। संसार सेवाका ही भूखा है, जो उसे सेवा-भक्तिरूपी पौष्टिक पक्वान्न देगा; भगवान् उसपर कृपा और दया ही करेंगे—***'हरि सेवकहि न ब्याप अबिद्या। प्रभु प्रेरित ब्यापइ तेहि बिद्या॥*** (रा०च०मा० ७।७९।२)

पारिवारिक जीवनकी दृढ़ भित्तियाँ—प्रेम, सहिष्णुता और सेवा

(श्रीअगरचन्दजी नाहटा)

प्रत्येक प्राणी जन्म तो अकेला लेता है, पर उसकी वृद्धि और सुरक्षामें कई व्यक्तियोंका हाथ होता है। सबसे पहले तो उसे जिसने अपने गर्भमें रखा और जन्मग्रहणके बाद भी जिसकी सेवाएँ उसे आगे बढ़ानेमें सहायक होती हैं, उस माताका उसपर असीम उपकार होता है। इसी तरह पिता, माता, बहन, दादी आदि, जो भी उसके निकट-सम्बन्धी उसके पनपनेमें सहायक होते हैं, उन सबके प्रति उसका आकर्षण होना स्वाभाविक है। यह आत्मीय-भाव, ममत्व या प्रेम ही पारिवारिक जीवनकी मूल भित्ति है। वैसे तो जीवन-व्यवहारमें अनेकों व्यक्तियोंसे सम्पर्क रहता है, पर उनके साथ वैसा अपनत्व कम ही हो पाता है। इसलिये जिनके साथ सदा रहा जाय, जो अपने सुख-दुःखके साथी हों, जिससे वंशपरम्परानुगत निकट-सम्बन्ध हो, उसका एक परिवार माना जाता है। जिनको हम अपना मानते हैं और जो हमें अपना मानते हैं, उस अपनेपनके साथ पारिवारिक-सम्बन्ध विशेषरूपमें जुड़ता है।

प्राचीन संस्कृति या परम्पराका अनुसंधान करनेपर यह मालूम होता है कि मनुष्यको अपना अकेलापन अखरा। सुख-दुःखके समय एक-दूसरेसे मिलना, अपनी बात दूसरोंको कहना और दूसरोंकी बात स्वयं सुनना उसे आवश्यक प्रतीत हुआ। वैदिक मान्यताके अनुसार सृष्टिकर्ता ईश्वर पहले अकेला था और उसे अपना अकेलापन अखरा और ईश्वरको यह इच्छा उत्पन्न हुई कि मैं एकका अनेक हो जाऊँ—**'एकोऽहं बहु स्याम्।'** उसके बाद ईश्वरने सृष्टिकी रचना आरम्भ की और विविध आकृति, रुचि एवं योग्यतावाले प्राणियोंकी सृष्टि की; क्योंकि एकही-जैसे सभी प्राणी होते तो क्रीड़ा या लीलाका जो सुख ईश्वर अनुभव करना चाहता था, वह उसे नहीं मिल पाता। पर यदि इन विभिन्नताओंमें एकता स्थापित करनेका प्रयत्न नहीं होता, सामंजस्य स्थापित नहीं किया जाता, तो एक-दूसरेसे विलग रहकर अपनी-अपनी खिचड़ी अलग-अलग पकाते, उनका मेल-मिलाप और पारस्परिक सौहार्द नहीं बन पाता। इसलिये स्नेह, ममत्व या प्रेमका बन्धन भी प्राणियोंमें डाला गया, जिससे एक-दूसरेसे अलग होते हुए भी सब एकताके डोरेमें बँधे हुए-से रहें। माताके हृदयमें अपनी संतानके प्रति स्नेह नहीं होता तो संतानका जीवित रहना ही कठिन हो जाता और उसकी उन्नति तो हो ही नहीं सकती; क्योंकि उसके शारीरिक एवं बौद्धिक विकासमें समय लगता है। वह स्वयं अपना आहार जुटाने और ग्रहण करनेमें समर्थ नहीं होता और जीवन-व्यवहारकी अनेक बातें सीख नहीं पाता। इसी तरह पारिवारिक जीवनकी आवश्यकता हुई और उससे मानव-समाजने बहुत अधिक उन्नति की। वैसे तो पशुओंमें भी पारिवारिक जीवन होता है, पर उसकी अनेक शक्तियाँ उस रूपमें विकसित नहीं हो पातीं, जिस रूपमें मनुष्यकी। एककी अपेक्षा अनेक व्यक्तियोंकी शक्ति जुड़ती है तो उससे अधिक लाभ मिलता है; क्योंकि प्रत्येक व्यक्तिमें जहाँ अपनी कुछ विशेषताएँ होती हैं तो कुछ कमियाँ भी होती हैं। इसलिये पारस्परिक संगठनके द्वारा एक-दूसरेकी कमियोंकी पूर्ति हो जाती है और विशेषताएँ बढ़ जाती हैं। इसलिये पारिवारिक जीवन एक पूरक जीवन है।

अनेक प्रकारकी अनेक शक्तियाँ मिलनेसे सबको उसका अच्छे परिमाणमें लाभ मिलता है। सुख और दुःखमें एक-दूसरेका सहारा मिलनेसे दुःख इतना भारी नहीं प्रतीत होता। जहाँ अकेला एक व्यक्ति ऊब जाता है, वहाँ दूसरा व्यक्ति उसे आश्वासन या सहारा देकर उसके दुःख-भारको हल्का कर देता है कि तुम चिन्ता न करो, मैं तुम्हारे साथ हूँ। जो भी सुख मुझे प्राप्त होगा, हम बाँटकर खायेंगे और दुःख मिलेगा तो भी मिलके भोगेंगे। तुम्हारा कोई विरोधी है या तुम्हें कोई मारने आयेगा तो मैं भी तुम्हारे साथ हूँ। तुम अपनेको अकेला मत समझना, तुम घरका काम देखोगे तो बाहरका काम मैं सम्हाल लूँगा। तुम बीमार पड़ जाओगे तो तुम्हारा काम मैं कर लूँगा अर्थात् एक-दूसरेसे मिल-जुलकर रहने और परस्पर सहायक बननेसे जीवन-संग्राममें अनेक सुविधाएँ प्राप्त होती हैं और इसी बातको लक्ष्यमें लेकर भारतमें पारिवारिक जीवनका अधिक विस्तार हुआ। एक परिवारमें दस-पाँच ही नहीं, पर सौ-दो-सौ

व्यक्ति भी होते हैं। उन सब व्यक्तियोंकी योग्यता एक समान हो ही नहीं सकती। कोई कमाऊ होता है तो कोई उड़ाऊ। कोई बुद्धिमान् होता है तो कोई मूर्ख। कोई बलवान् होता है तो कोई बलहीन। कोई स्वस्थ है तो कोई रोगी। कोई एक व्यक्ति ही बहुत व्यक्तियोंका काम कर सकता है तो कोई सर्वथा निठल्ला और निकम्मा होता है। यावत् परिवारमें कुछ व्यक्ति अंधे, लंगड़े, लूले, बहरे भी होते हैं, पर सबमें अपनत्व और ममत्व होनेसे सबका एक साथ निर्वाह होता रहता है।

कुछ तेजमिजाजके होते हैं, उनकी कटु बात भी सबको सहनी पड़ती है। अतः पारिवारिक जीवनकी दूसरी मूल भित्ति है—सहिष्णुता। एक-दूसरेकी अच्छी-बुरी बातको सहन किये बिना निर्वाह नहीं हो सकता। यदि परिवारके एक व्यक्तिने कुछ कहा और दूसरा उसे सहन नहीं कर पाया तो परस्परमें झगड़ा होकर पारिवारिक संगठन टूट जायगा। यदि एक व्यक्ति नहीं कमाता है और परिवारके लिये भाररूप है तो भी परिवारका मुखिया उसे बरदाश्त करेगा। सबको स्नेह-रज्जुमें बाँधकर रखनेकी यह कला सहनशीलतापर ही आधारित है।

तीसरी मूल भित्ति है—पारस्परिक सहयोग और सेवा। मनुष्य जिसको अपना मान लेता है, उस आत्मीयके लिये स्वयं कष्ट उठानेको भी तैयार रहता है—यदि उससे दूसरेको सुख मिलता हो। परिवारका एक व्यक्ति रोगी होता है तो उसकी परिचर्यामें वह अपने शरीरकी सुध-बुध खो बैठता है। दिन-रात एक करके भी वह कैसे और जल्दी-से-जल्दी रोगमुक्त हो, इसके लिये पूरा प्रयत्न करता है। मान लीजिये एक व्यक्ति गिर पड़ा, पर यदि उसे कोई सहारा देकर खड़ा करनेवाला हो तो उसका कष्ट बहुत हलका हो जायगा। आज विपत्ति मुझपर आयी है तो कल दूसरेपर भी आ सकती है। इसलिये एक-दूसरेके सहयोग एवं सेवाकी नितान्त आवश्यकता है। परिवारके लोग घरके अनेक कामोंमें बँटवारा कर लेते हैं और अपना-अपना काम ठीकसे करते-रहते हैं तो भी मन मिला रहता है। एक व्यक्तिको बहुत अधिक काम करना पड़े और दूसरा निकम्मा बैठा रहे तो अधिक काम करनेवालेको यह अखरेगा ही और इसका परिणाम आगे चलकर पारिवारिक संगठनका छिन्न-भिन्न हो जाना अनिवार्य होगा। ठीक है, परिवारमें कोई कम काम करता है, कोई अधिक। उसे अधिक महत्त्व देना भी भेदका कारण बनेगा, पर जहाँ उसकी मात्रामें आधिक्य आया, वहाँ तो अलगाव होना निश्चित ही है; क्योंकि सहन करनेकी भी एक सीमा होती है। अतः परिवारके लोगोंमें एक-दूसरेका ध्यान रखना और सहायक बनना बहुत ही आवश्यक है। जिस प्रकार सम्पत्तिमें सबका समान भाग है, उसी प्रकार विपत्तिमें भी होना चाहिये। एक-दूसरेकी सेवा करनेको तत्पर रहना चाहिये। तभी पारिवारिक जीवन सुखी हो सकता है।

अनुशासन भी पारिवारिक जीवनका आवश्यक अंग है। परिवारके मुखियाके अनुशासनमें सभीको रहना जरूरी है। स्वच्छन्द अपने मनके मते चलनेसे परिवार तीन-तेरह हो जायगा।

भारतीय संस्कृतिमें आत्मीयताके विस्तारको बड़ा महत्त्व दिया गया है। अतः संकुचित परिवारसे विशाल परिवारकी ओर हमारा ध्यान जाना आवश्यक है। ज्यों-ज्यों विश्वप्रेमकी भावना बढ़ती जायगी; त्यों-त्यों परिवारका संकुचित दायरा विशाल होता जायगा। साधु-महात्मा यही तो करते हैं। पहले तो देखनेमें यही लगता है कि इन्होंने परिवारको छोड़ दिया, स्नेह-बन्धनको तोड़ दिया। पर वास्तवमें उन्होंने संकुचित पारिवारिक जीवनको समाप्तकर विशाल परिवारको अपनाया है। अब उनका अपनत्व या ममत्व दस-बीस व्यक्तियोंमें ही सीमित न रहकर हजारों, लाखों और करोड़ोंमें व्याप्त हो गया है। इसीलिये कहा गया है—

अयं निजः परो वेत्ति गणना लघुचेतसाम्।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्॥

साधुके लिये पहले कुटुम्बका सम्बन्ध छूटकर गुरु-शिष्योंका परिवार बनता है। फिर अनेक अनुयायियोंका एक विशाल परिवार बन जाता है और अन्तमें उन्हें सारा विश्व ही अपना कुटुम्ब—परिवार मालूम होने लगता है। उनके लिये पराया कोई है ही नहीं, सभी तो अपने हैं। अतः यह तेरा, यह मेरा—यह क्षुद्र भावना वहाँ समाप्त हो जाती है। यही आत्मीयताका विस्तार है, यही विश्वप्रेम है।

आजकल पारिवारिक जीवनके प्रति अरुचि बढ़ने लगी है। सभी स्वतन्त्र या स्वाधीन रहना चाहते हैं।

बड़ोंके प्रति विनय और माता-पिता आदि गुरुजनोंके प्रति अपना कर्तव्य भुला दिया जा रहा है। परिवार अनेक छोटे-छोटे दायरोंमें विभक्त होता जा रहा है। इससे संकुचित स्वार्थवृत्ति प्रबल हो रही है। दो भाइयोंमें एक सगा भाई तंगीमें है, भूखा है, कष्टमें है, पर दूसरा भाई समर्थ होते हुए भी उसकी ओर उपेक्षा कर रहा है। एक-दूसरेको सहायता देनेकी भावना समाप्त होती जा रही है। यह भारतीय संस्कृतिके तो सर्वथा विपरीत है ही, पर इससे मानवोचित गुणोंका ह्रास होता दिखायी दे रहा है। मैं पिया, मेरा बैल पिया, अब चाहे कुआँ टूट पड़े। मैं सुखी हूँ, बस, इतना ही काफी है, दूसरा दुखी है तो इसका मैं क्या करूँ? इस तरह आजकल 'मैं' अपनी स्त्री और संतानमें ही सीमित होता जा रहा है। यह बहुत ही हानिकारक है। इस ओर ध्यान देकर माता-पिता, भ्राता-बहन आदिके पारिवारिक प्रेमसम्बन्धको उपर्युक्त दृढ़ भित्तियोंपर पुनः स्थापित करना चाहिये।

सन्त उद्बोधन

(ब्रह्मलीन श्रद्धेय स्वामी श्रीशरणानन्दजी महाराज)

साधक महानुभाव! शरीरके द्वारा हमें वह नहीं मिला, जो हमारी माँग है। शरीरके बिना जो जीवन है, वही सभीको अभीष्ट है। उस जीवनके लिये शरीरकी कोई अपेक्षा नहीं मालूम होती। शरीरके न रहनेका जिन लोगोंको भय है, वे विचार करें कि क्या शरीरको सदैव बनाये रखना सम्भव है? यदि सम्भव नहीं है तो शीघ्र उस जीवनकी माँग अनुभव करना चाहिये अथवा खोज करना चाहिये, जो शरीरके बिना सदैव ज्यों-का-त्यों है। जो शरीरसे अतीत जीवन है, उसकी खोज शरीरके सहयोगसे नहीं होगी।

अब विचार यह करना है कि शरीरके सहयोगके बिना हम क्या कर सकते हैं। हम अचाह हो सकते हैं, अप्रयत्न हो सकते हैं और श्रद्धा-विश्वासपूर्वक शरणागत हो सकते हैं। अचाह होनेका अर्थ केवल इतना ही है कि हमें वह नहीं चाहिये, जो शरीर और संसारकी सहायतासे प्राप्त होता है।

बेचारा शरीर और संसार हमारी माँगकी पूर्तिमें लेशमात्र भी बाधक अथवा सहायक नहीं है। जबतक इस सत्यका अनुभव नहीं होता, तबतक शरीर और संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद नहीं हो सकता और उसके बिना हुए साधक अपनेको अपनेमें 'सन्तुष्ट' नहीं कर सकता। अपनेमें सन्तुष्ट हुए बिना अपनेको अपने प्रेमास्पदकी प्राप्ति नहीं हो सकती। अपनेमें सन्तुष्ट होना ही वास्तविक योग है। योगकी पूर्णतामें बोध और प्रेम निहित है। योग, बोध और प्रेमकी प्राप्तिमें ही जीवनकी पूर्णता है।

शरीरका सदुपयोग प्राप्त परिस्थितिके सदुपयोगमें है। प्राप्त परिस्थितिका सदुपयोग लोकहितमें भले ही हेतु हो, उससे अपनी वास्तविक माँग पूरी नहीं होती। वास्तविक माँग की तीव्र जागृति ही उसकी पूर्तिमें हेतु है। वास्तविक माँग कामको खा लेती है। कामरहित होते ही देहका तादात्म्य टूट जाता है और फिर साधक बड़ी ही सुमगतापूर्वक अपनेको अपनेमें सन्तुष्ट पाता है।

प्राप्त परिस्थितिके सदुपयोगद्वारा उससे असंग हो जाओ, सफलता अवश्वम्भावी है। प्रत्येक परिस्थिति प्राकृतिक न्याय है। उसके सदुपयोगमें ही साधककी स्वाधीनता है। परिस्थितिमें जीवन-बुद्धि भारी भूल है।

जीवन तथा जीवनधन अपनेमें ही है, इस वास्तविकतामें विकल्प मत करो। निर्विकल्प आस्था महान् बलवती है, पर यह रहस्य प्रभु-विश्वासी शरणागत साधकको ही स्पष्ट होता है। शरीरके रहते हुए ही शरीरकी आवश्यकतासे मुक्त होनेके लिये यथाशक्ति प्रयत्नशील रहो। प्रत्येक साधकको आवश्यक सामर्थ्य बिना ही माँगे मिलती है, यह अनन्तका मंगलमय विधान है।

वास्तविकतामें अविचल आस्था करो और लक्ष्यसे निराश मत होओ, अपितु लक्ष्यकी प्राप्तिके लिये उत्तरोत्तर नित-नव उत्साह बढ़ाते रहना चाहिये। उत्साहहीनता तथा निराशाके लिये साधकके जीवनमें कोई स्थान ही नहीं है।

अतः सभी साधक महानुभाव साध्यकी प्राप्तिके लिये अथक प्रयत्नशील रहें, सफलता अवश्यम्भावी है। इसी सद्भावनाके साथ सभीको बहुत-बहुत प्यार! ॐ आनन्द!

सेवाकी पगडण्डियाँ

(वैद्य श्रीबदरुद्दीनजी राणपुरी)

१—सत्कर्मोंकी सेवा भविष्यपर मत टालो, अभी-अभी करो। कल तुम जीवित ही रहोगे, इसका क्या विश्वास है?

२—मुझे लोकोपयोगी कार्य करने हैं, इतनी लगन लगते ही बहुत-से सत्कर्म करनेकी शक्ति, जो तुममें छिपी हुई है, प्रकट हो जायगी।

३—जहाँ-जहाँ दृष्टि जाती है, वहाँ-वहाँ सेवा करनेके छोटे-बड़े अवसर होते हैं, उन्हें हाथसे निकलने नहीं देना चाहिये।

४—सेवा-पूजाका सुअवसर प्राप्त होनेपर प्रभुका तथा सेवा स्वीकार करनेवाले प्रभुके अन्यरूपोंका भी हृदयसे आभार मानना चाहिये।

५—'अमुक कार्य अच्छा है'—ऐसा निश्चय होनेपर उस सत्कर्मके करनेमें एक पलका भी विलम्ब नहीं लगाना चाहिये।

६—जिस दिन एक भी सत्कर्म न मिले, उस दिनको बाँझ मानना चाहिये। आजसे संकल्प कीजिये—'नित्यप्रति एक या दो सेवाके कार्य अवश्य करूँगा।' प्रतिदिन तीन सत्कर्म करनेसे वर्षमें लगभग एक हजार सत्कर्मोंका भण्डार भर जाता है।

७—खेतमें बोये हुए सभी बीज अंकुरित नहीं होते, परंतु जीवनमें किये गये सत्कर्मोंका एक भी बीज व्यर्थ नहीं जाता, यह निश्चय मानना चाहिये।

८—प्रसन्नचित्तसे सेवा करनेवालेकी रात्रि शान्तिपूर्वक व्यतीत होती है। लोक-कल्याणके लिये जीनेवालेकी मृत्यु मंगलमय होती है।

९—जो अन्यको सन्तुष्ट करता है, उसे भगवान् सन्तुष्ट करते हैं।

१०—स्मरण रखिये कि हमसे अधिक बलवान् ईश्वर हम सबको सेवा करनेकी शक्ति देते रहते हैं। हम तो उनके प्रतिनिधिमात्र हैं, फिर सेवाका अभिमान क्यों करें?

११—प्रत्येक पल परोपकारमें बीते, इसके लिये सदैव सावधान रहें।

१२—सेवा स्वीकार करनेवालेपर हम परोपकार करते हैं, ऐसी भावना अपने या उसके मनमें उत्पन्न न होने दें। चित्तशुद्धिके लिये ही सत्कार्य करते रहें।

१३—सेवाधर्म स्वीकार करनेवालेका एक पल भी प्रमादमें नहीं जाना चाहिये। निश्चय कीजिये कि प्रभुप्रदत्त आयुष्यकी भेंट हम ऊँचे-से-ऊचे कार्योंमें ही करेंगे।

१४—आजसे प्रतिज्ञा कीजिये कि किसीकी सेवा करनेसे चित्त नहीं चुरायेंगे, पैर पीछे नहीं रखेंगे तथा किसीसे सेवा लेनेकी आशा नहीं रखेंगे।

१५—परपीड़ासे दुखी होकर, बदलेमें प्रत्युपकारकी आशा न रखकर दूसरेकी पीड़ाको दूर करनेके लिये जो क्रिया होती है, वह सच्ची सेवा होती है।

१६—सत्ता और सम्पत्तिके लिये आपकी चापलूसी करनेवाले तो बहुत मिल जायँगे, परंतु मनुष्योंका प्रेम और सद्भाव तो अपने सद्गुणों और निःस्वार्थ सेवाद्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है।

१७—सत्कर्म करनेवाले प्रत्येक व्यक्तिको प्रोत्साहन देना परम पुण्यका कार्य है।

१८—जीवनमें स्वयं जो सुख प्राप्त किया हो, उसकी चाभी बिना संकोचके दूसरोंको बताना सर्वोत्तम भेंट है।

१९—स्नानसे तन, ध्यानसे मन और दानसे धनकी शुद्धि होती है। इसलिये जो भी दिया जाय, प्रेमसे दिया जाय, जिससे वह शीघ्र अंकुरित होने लगे।

२०—न्यायपूर्वक धन पैदा करके गरीबोंकी सेवामें आयका दसवाँ भाग नित्यप्रति नियमित लगाना चाहिये। इससे सुख-सम्पत्तिकी वृद्धि होती है और चित्त शुद्ध होता है—ऐसा शास्त्रोंका वचन हैं तथा अनेक महापुरुषोंके अनुभव हैं।

२१—सुख देनेसे बढ़ता रहता है। धन सत्कार्योंमें जितना लगाया जाता है, उतना स्वच्छ होता है और बढ़ता जाता है।

व्रतोत्सव-पर्व

सं० २०७१, शक १९३६, सन् २०१५, सूर्य उत्तरायण, शिशिर-वसन्त-ऋतु, चैत्र कृष्णपक्ष

तिथि	वार	नक्षत्र	दिनांक	मूल, भद्रा, पंचक तथा व्रत-पर्वादि
प्रतिपदा रात्रिमें १२। ४४ बजेतक	शुक्र	पू०फा० दिनमें १०। ३६ बजेतक	६ मार्च	**कन्याराशि** सायं ५। १४ बजेसे, **होली (वसन्तोत्सव)।**
द्वितीया ” २। ४१ बजेतक	शनि	उ० फा० ” १। ९ बजेतक	७ ”	× × × ×
तृतीया ” ४। २० बजेतक	रवि	हस्त ” ३। २८ बजेतक	८ ”	**भद्रा** दिनमें ३। ३० बजेसे रात्रिमें ४। २० बजेतक, **तुलाराशि** रात्रिमें ४। २८ बजेसे।
चतुर्थी रात्रिशेष ५। ३१ बजेतक	सोम	चित्रा सायं ५। २६ बजेतक	९ ”	**संकष्टी श्रीगणेशचतुर्थीव्रत, चन्द्रोदय** रात्रिमें ९। ९ बजे।
पंचमी अहोरात्र	मंगल	स्वाती रात्रिमें ६। ५९ बजेतक	१० ”	**रंगपंचमी।**
पंचमी प्रातः ६। १७ बजेतक	बुध	विशाखा ” ८। १ बजेतक	११ ”	**वृश्चिकराशि** दिनमें १। ४५ बजेसे।
षष्ठी ” ६। २९ बजेतक	गुरु	अनुराधा ” ८। ३२ बजेतक	१२ ”	**भद्रा** प्रातः ६। २९ बजेसे सायं ६। २१ बजेतक, **मूल** रात्रिमें ८। ३२ बजेसे।
सप्तमी ” ६। ११ बजेतक	शुक्र	ज्येष्ठा ” ८। ३५ बजेतक	१३ ”	**धनुराशि** रात्रिमें ८। ३५ बजेसे, **श्रीशीतलाष्टमीव्रत।**
नवमी रात्रिमें ४। १२ बजेतक	शनि	मूल ” ८। १० बजेतक	१४ ”	**मूल** रात्रिमें ८। १० बजेतक।
दशमी ” २। ३६ बजेतक	रवि	पू० षा० ” ७। २४ बजेतक	१५ ”	**भद्रा** दिनमें ३। २३ बजेसे रात्रिमें २। ३६ बजेतक, **मकरराशि** रात्रिमें १। ७ बजेसे, **सायन मीनका सूर्य**-प्रातः ७। १७ बजे, **खरमास प्रारम्भ, वसन्तऋतु प्रारम्भ।**
एकादशी ” १२। ४० बजेतक	सोम	उ० षा० ” ६। १६ बजेतक	१६ ”	**पापमोचनी एकादशीव्रत (सबका)।**
द्वादशी ” १०। ३१ बजेतक	मंगल	श्रवण दिनमें ४। ५३ बजेतक	१७ ”	**कुम्भराशि** रात्रिमें ४। ७ बजेसे, **बुढ़वामंगल, पंचकारम्भ** रात्रिमें ४। ७ बजे।
त्रयोदशी ” ८। १३ बजेतक	बुध	धनिष्ठा ” ३। २१ बजेतक	१८ ”	**भद्रा** रात्रिमें ८। १३ बजेसे, **प्रदोषव्रत, उत्तराभाद्रपदका** सूर्य दिनमें ३। ३१ बजे।
चतुर्दशी सायं ५। ४८ बजेतक	गुरु	शतभिषा ” १। ४१ बजेतक	१९ ”	**भद्रा** प्रातः ७। ० बजेतक।
अमावस्या दिनमें ३। २४ बजेतक	शुक्र	पू० भा० ” १२। ० बजेतक	२० ”	**मीनराशि** प्रातः ६। २५ बजेसे, **अमावस्या।**

सं० २०७२, शक १९३७, सन् २०१५, सूर्य उत्तरायण, वसन्त-ऋतु, चैत्र शुक्लपक्ष

तिथि	वार	नक्षत्र	दिनांक	मूल, भद्रा, पंचक तथा व्रत-पर्वादि
प्रतिपदा दिनमें १। ४ बजेतक	शनि	उ०भा० दिनमें १०। २४ बजेतक	२१ मार्च	**'कीलक' संवत्सर प्रारम्भ, गुडीपडवा, सायनमेषका सूर्य** प्रातः ६। ३१ बजे, **मूल** दिनमें १०। २४ बजेसे, **चैत्र नवरात्रारम्भ।**
द्वितीया ” १०। ५५ बजेतक	रवि	रेवती ” ८। ५८ बजेतक	२२ ”	**मेषराशि** रात्रिमें ८। ५८ बजेसे, **पंचक** दिनमें ८। ५८ बजेतक।
तृतीया ” ८। ५८ बजेतक	सोम	अश्विनी ” ७। ४३ बजेतक	२३ ”	**भद्रा** रात्रिमें ८। ११ बजेसे, **वैनायकी श्रीगणेशचतुर्थीव्रत, गणगौर, मूल** दिनमें ७। ४३ बजेतक।
चतुर्थी ” ७। २२ बजेतक	मंगल	भरणी प्रातः ६। ५० बजेतक	२४ ”	**भद्रा** दिनमें ७। २२ बजेतक, **वृषराशि** दिनमें १२। ४२ बजेसे।
पंचमी प्रातः ६। ७ बजेतक षष्ठी रात्रिशेष ५। १९ बजेतक	बुध	कृत्तिका ” ६। १५ बजेतक	२५ ”	**श्रीसूर्यषष्ठीव्रत।**
सप्तमी रात्रिशेष ५। ० बजेतक	गुरु	रोहिणी ” ६। ८ बजेतक	२६ ”	**भद्रा** रात्रिशेष ५। ० बजेसे, **मिथुनराशि** सायं ६। १९ बजेसे।
अष्टमी ” ५। ११ बजेतक	शुक्र	मृगशिरा ” ६। २९ बजेतक	२७ ”	**भद्रा** सायं ५। ५ बजेतक, **श्रीदुर्गाष्टमीव्रत, महानिशापूजा।**
नवमी अहोरात्र	शनि	आर्द्रा दिनमें ७। १९ बजेतक	२८ ”	**कर्कराशि** रात्रिमें २। २२ बजेसे, **श्रीरामनवमीव्रत।**
नवमी प्रातः ५। ५४ बजेतक	रवि	पुनर्वसु ” ८। ४२ बजेतक	२९ ”	**नवरात्रव्रतकी पारणा** प्रातः ५। ५४ बजेके बाद।
दशमी दिनमें ७। ५ बजेतक	सोम	पुष्य ” १०। ३१ बजेतक	३० ”	**भद्रा** रात्रिमें ७। ५४ बजेसे।
एकादशी ” ८। ४२ बजेतक	मंगल	आश्लेषा ” १२। ४३ बजेतक	३१ ”	**भद्रा** दिनमें ८। ४२ बजेतक, **सिंहराशि** दिनमें १२। ४३ बजेसे, **कामदा एकादशीव्रत (सबका), रेवतीका सूर्य** रात्रिमें २। ४ बजे।
द्वादशी ” १०। ३७ बजेतक	बुध	मघा ” ३। ११ बजेतक	१ अप्रैल	**प्रदोषव्रत।**
त्रयोदशी ” १२। ४२ बजेतक	गुरु	पू०फा० सायं ५। ४९ बजेतक	२ ”	**कन्याराशि** रात्रिमें १२। २७ बजेसे, **श्रीमहावीर जयन्ती।**
चतुर्दशी ” २। ४७ बजेतक	शुक्र	उ०फा० रात्रिमें ८। २४ बजेतक	३ ”	**भद्रा** दिनमें २। ४७ बजेसे रात्रिमें ३। ४५ बजेतक, **व्रत-पूर्णिमा।**
पूर्णिमा सायं ४। ४१ बजेतक	शनि	हस्त ” १०। ४६ बजेतक	४ ”	**पूर्णिमा, श्रीहनुमज्जयन्ती, ग्रस्तोदित चन्द्रग्रहण प्रारम्भ** दिन ३। ४५ बजे, मोक्ष रात्रिमें ७। १५ बजे।

सेवाके प्रेरक प्रसंग—

(१)

मातृसेवाका दृष्टान्त

(स्वामी श्रीआत्मश्रद्धानन्दजी)

तैत्तिरीय उपनिषद्में लिखा है—**'मातृदेवो भव'** अपनी माँको ईश्वर समझनेवाले बनो। इस प्रकार अत्यन्त प्राचीन कालसे ही भारतीय संस्कृतिमें मातृपूजाकी परम्परा चली आ रही है। सनातन धर्ममें माता-पिता दोनों बड़े पूज्य हैं; क्योंकि व्यक्ति जीवनका प्रथम पाठ और यहाँतक कि मातृभाषा भी उन्हींसे सीखता है। निश्चय ही यह सनातन धर्मका गौरव है, उसकी महानता है। उपनिषदोंके मंत्र केवल पाठ तथा अध्ययन करनेतक ही सीमित नहीं हैं, बल्कि आज भी ऐसे लोग हैं, जो अपने जीवनमें उनका आचरण करते हैं। वे लोग साहसी हैं और वे ही इस शाश्वत धर्मको शक्ति प्रदान करते हैं। इस सन्दर्भमें कुछ समय पूर्व घटी ऐसी ही एक प्रेरक घटना यहाँ प्रस्तुत है—

मध्यप्रदेशके जबलपुरमें कैलासगिरि नामका एक बालक था। एक बार वह पेड़परसे गिरकर बुरी तरह घायल हो गया। उसे यथाशीघ्र चिकित्सकके पास ले जाया गया। लेकिन उसके बचनेकी संभावना कम थी। उसकी माँने भी वही किया, जो संसारकी असंख्य माताएँ करती हैं। उन्होंने अपने पुत्रकी रक्षाके लिये अपने कुलदेवता भगवान् शिवसे प्रार्थना की और साथ ही यह प्रतिज्ञा भी की कि वे २००० किलोमीटर पैदल चलकर रामेश्वरम् दर्शन करने जायँगी। चिकित्सकोंने तो बालकके बचनेकी आशा छोड़ दी थी, परंतु बड़े ही आश्चर्यजनक ढंगसे वह बालक शीघ्र ही स्वस्थ हो उठा।

परंतु उसकी युवती माता अपनी प्रतिज्ञा पूरी न कर सकी। वह अपने सांसारिक कार्योंमें व्यस्त रही। धीरे-धीरे समय काफी बीत गया, वह वृद्ध हो गयी। वृद्धावस्थाके साथ-साथ उसकी नेत्र-ज्योति भी क्षीण होती गयी और क्रमशः वह अन्धी हो गयी। अतः उसे अपनी प्रतिज्ञा पूरी न कर पानेका पछतावा होने लगा।

एक बार उसने अपना खेद अपने पुत्रके समक्ष व्यक्त किया। पुत्रने उसकी बातको धैर्यपर्वूक सुना और दृढ़तापूर्वक विश्वास दिलाया कि वह उस प्रतिज्ञाकी पूर्तिमें सहायता करेगा, परंतु वह दृष्टिहीन वृद्धा उतनी दूर पैदल कैसे जाय?

वह इतना निर्धन था कि उसके लिये किसी वाहनकी व्यवस्था करना भी सम्भव न था, पर वचनबद्धता और दृढ़ताका वह धनी था। उसने श्रवणकुमारकी मातृ-पितृभक्तिको सुन रखा था, जिसने अपने माता-पिता—दोनोंको काँवरमें बिठाकर, अपने कन्धोंपर वहन करते हुए तीर्थ-दर्शन कराया था। कैलासगिरिने भी श्रवणकुमारके समान ही पैदल यात्राका निर्णय लिया। उन्होंने भी बाँसकी काँवर बनायी। उसपर एक ओर उन्होंने माँके बैठनेके लिये गद्दीदार आसन रखा और दूसरी ओर पानीकी बाल्टी, डिब्बे, खाना बनानेका स्टोव, मिट्टीका तेल, कुछ खाद्य-सामग्री और बर्तन आदि रखे। इन सबके साथ माँको मिलाकर कुल वजन लगभग १३५ किलोग्राम हुआ।

इस प्रकार यात्रा शुरू हुई। सबसे पहले उन लोगोंने मध्य भारतकी दुर्गम नर्मदा नदीकी परिक्रमा सम्पन्न की। तदुपरान्त वे लोग पुण्यतीर्थ चित्रकूट, प्रयाग, अयोध्या और वाराणसी गये। अपने यात्रा-मार्गमें उन लोगोंने छोटे-बड़े लगभग ९,००० मन्दिरोंके दर्शन किये।

सन् २००५ ई० की मईमें वे लोग अपने गन्तव्य रामेश्वरम् पहुँचे। मन्दिरके संचालकोंने सैकड़ों भक्तोंके साथ उनका यथायोग्य स्वागत किया। सभी लोग माता और पुत्रके इस अद्भुत निर्णय, उनकी ईश्वर-भक्ति और माँकी इच्छापूर्तिके लिये पुत्रकी निष्ठासे अभिभूत हो गये। इस अद्भुत घटनासे प्रभावित अनेकों भक्तोंने वायुयान, रेलगाड़ी और वातानुकूलित कारद्वारा यात्राकी व्यवस्था करनेका भी प्रस्ताव किया, पर उन्होंने इसे

विनम्रतापूर्वक अस्वीकार कर दिया; क्योंकि माँने पैदल ही जाने और आनेकी प्रतिज्ञा ली थी।

मदुरैके समाचार-पत्रोंने यह समाचार विस्तारसे प्रकाशित किया, पर माँ और पुत्र—दोनों ही विनम्रतापूर्वक अपने प्रचार-प्रसारसे विमुख रहे। रामेश्वरम्-दर्शनके बाद कैलासगिरि नगर-भ्रमण करते हुए मदुरैके रामकृष्णमठ भी गये और वहाँके संन्यासियोंसे भेंट की। बादमें माँ-पुत्र दोनोंने अपने स्व-निर्वाचित पथसे प्रस्थान किया।

४० वर्षीय कैलासगिरिसे जब पूछा गया कि उन्होंने अपना यह ९ वर्षका समय कैसे बिताया? तो प्रत्युत्तरमें उन्होंने कहा कि मैं और मेरी माँ प्रायः प्रतिदिन प्रातः तीन बजे उठ जाते हैं। मैं अपनी माँकी प्रातःक्रियामें सहायता करता हूँ, उसके बाद अपने प्रस्थानके निर्धारित समय छः बजेके पूर्व माँ नित्य-पूजा करती हैं। मैं पाँच या छः किलोमीटर पैदल चलता हूँ और उसके बाद सड़कके किनारे स्थित किसी मन्दिर या मण्डपके सुविधाजनक स्थानमें ठहरकर हमलोग विश्राम करते हैं, तत्पश्चात् भोजन बनाते हैं। भोजन करनेके बाद हमलोग सूर्यास्ततक विश्राम करते हैं। उसके बाद फिर अँधेरा होनेतक २-३ किलोमीटर और चलते हैं। प्रतिदिन हमलोग औसतन करीब आठ किलोमीटर पैदल चलते हैं। कैलासगिरिने बताया कि प्रत्येक सौ मीटरपर अपना वजन जमीनपर रखकर मैं अपनी माँकी परिक्रमा करके घुटने टेककर प्रणाम करता था और तब पुनः यात्रा आरम्भ करता था। उदारहृदय दानी लोगोंके द्वारा जो चीजें प्रदान की जाती थीं, उसीसे हमलोगोंकी आवश्यकताओंकी पूर्ति हो जाती थी।

कैलासगिरि-जैसे मातृभक्त निश्चय ही दुर्लभ हैं। आजके युगमें जब धन-दौलत तथा भौतिक सुविधाएँ ही जीवनकी प्राथमिकता बन बैठी हैं, ऐसा दृष्टान्त मिलना कठिन है। आजके युवा और सम्पन्न लड़के प्रायः अपने माता-पिताको वृद्धाश्रममें भेज देते हैं, पर उपर्युक्त घटना माताके प्रति एकनिष्ठ भक्तिका उदाहरण प्रस्तुत करती है। कैलासगिरि-जैसे मातृभक्त पुत्रोंकी उत्तरोत्तर वृद्धि और विस्तार हो, यही हमारी ईश्वरसे प्रार्थना है।

[प्रेषक—अरुण चूड़ीवाल]

(२)

सपूत सनातनकी मातृसेवा

सनातनका जन्म उड़ीसामें हुआ था। इसके परिवारमें कुल चार प्राणी थे। सनातनका छोटा एक वर्षका भाई और स्नेहमय माता-पिता। इस सीमित परिवारमें यद्यपि धन-बाहुल्य नहीं था; किंतु थी सरलता, सज्जनता, सदाशयता और सत्प्रेम! प्रातः-सायं दम्पती बालकोंको गोदमें लिये भगवच्चर्चा करते। सन्तोषके कारण सुख था, शान्ति थी और पवित्रतापूर्ण जीवन जगदाधार स्वामीकी ओर अग्रसर होता जा रहा था।

उड़ीसामें एक बार दो वर्षोंतक लगातार भयानक अकाल पड़ा। सनातनका क्षेत्र उसकी लपेटसे बच नहीं सका। अन्न-जल और तृणादिके अभावमें मनुष्य और पशु-पक्षी छटपटा-छटपटाकर कालके कराल गालमें जाने लगे। दिन-दोपहर डाके पड़ने लगे।

उस समय सनातन कुल ग्यारह वर्षका था और उसके छोटे भाईकी आयु चार वर्षकी थी। पिता सूर्योदयके पूर्व ही घरसे बाहर निकल जाता और सूर्यास्तके बादतक दो-एक मुट्ठी अन्न कठिनाईसे एकत्र कर पाता। उतनेसे किसका पेट भरता। पिता अपनी प्राणप्रिय पत्नी और संतानका मुँह देखकर अधीर हो जाता। उसका हृदय विदीर्ण होने लगता; परंतु वह करता ही क्या? वश ही उसका क्या था? भयंकरता यहाँतक बढ़ी कि कई दिनों कुछ भी नहीं मिला। घरकी सारी चीजें बिक चुकी थीं। सनातनके पिताके पास कोई साधन नहीं था। उसने बाहर जानेके लिये अपनी पत्नीसे कहा। पत्नी जानती थी कि इस विवशताने इन्हें जीवनका मोह छुड़ा दिया है। उसने बार-बार मना किया; किंतु

एक दिन सनातनके पिता रात्रिमें चुपकेसे चले गये और कहाँ चले गये, कैसे बताया जाय, वे पुनः कभी वापस नहीं आये।

ग्यारह वर्षकी आयु कोई अधिक नहीं होती। सनातन तो रुग्ण और जर्जर-सा हो गया था। अन्नके बिना अस्थिपंजरके अतिरिक्त कुछ नहीं रह गया था उसकी कायामें। उसकी माँ तो शय्यासे सट गयी थी, पर बालक बुद्धिमान् था और था मातृभक्त! माता और भाईकी रक्षाके लिये भीख माँगनेको वह स्वयं निकल पड़ा। प्रतिदिन वह तीन-चार मील चलता और हरित तृण, वृक्षमूल या थोड़ा-बहुत अन्न आदि जो कुछ उपलब्ध होता, सनातन स्वयं न खाकर अपनी जन्मदायिनी जननी और छोटे भाईके लिये ले आता। उन लोगोंको खिलाकर वह बहुत-थोड़ा अपने मुँहमें डालता।

शरीर कितना सहता। सनातन मूर्च्छित हो गया। चेतना हुई, पर 'माँ और अबोध भाई?' सनातन उठता और गिर पड़ता। माँ और भाईको अन्न दिये तीन दिन बीत चुके थे। सनातनने पासमें पड़ी पिताकी लाठी उठा ली। उसीके सहारे वह अन्नके लिये चल पड़ा। कुछ दूर जानेपर फिर गिर पड़ा, मूर्च्छित हो गया। चेतना आयी, तो आगे बढ़ा। इसी प्रकार गिरता-पड़ता वह बढ़ रहा था।

'मैया! थोड़ा भात मुझे भी!' सनातनने एक स्त्रीको भात बनाते देखकर अत्यन्त दीन और कातर वाणीमें याचना की। स्त्रीने बालककी ओर देखा। दीनता-दरिद्रता और पीड़ाकी जीवित मूर्ति देखकर स्त्री काँप गयी। वह सिहर उठी। उसका हृदय करुणार्द्र हो गया। उसने थोड़ा भात सनातनको एक पत्तेमें दे दिया। सनातन भात लिये चल पड़ा। गिरा, उठा। फिर गिरा, फिर उठा; पर मातृ-भ्रातृ-प्रेमी बालक सनातन अपने प्राणोंकी चिन्ता किये बिना लाठीके सहारे भात लिये भागा जा रहा था।

कहते हैं, भूखी माँ भी अपना पुत्र त्याग देती है और भूखी साँपिन अपनी ही संततिको निगल जाती है। सनातन भी भूखसे आकुल था। उसके प्राण वशमें नहीं थे, फिर भी वह स्वयं ही नहीं खाकर माँ और भाईकी ओर दौड़ा जा रहा था।

'भैया!' छोटा भाई सनातनको देखते ही उसकी ओर लपका। सनातनने थोड़ा-सा भात उसके मुँहमें दे दिया। उसकी आकृतिपर जीवन आ गया। उसने और भातके लिये भाईका हाथ पकड़ा, पर सनातन माँकी ओर बढ़ गया। छोटा भाई चिल्ला उठा। 'क्या है रे!' माँने धीरेसे करवट लेकर कहा। 'थोड़ा भात है माँ!' सनातनने बताया और भात माँके सामने रख दिया।

सनातनकी सर्वथा अशक्य काया और अपने तथा पुत्रके जीवनकी रक्षाके लिये साहस और प्रयत्न देखकर माताकी गड्ढेमें धँसी आँखें गीली हो गयीं। 'भगवान् तेरा कल्याण करें बेटा!' माँने हिचकते हुए गद्‌गद कण्ठसे कहा 'तेरे-जैसे सपूत बड़े भाग्यसे मिलते हैं।'

(३)

वृद्ध-सेवाका सुपरिणाम

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम्॥

मनु महाराजकी यह उक्ति बहुत ही श्रेष्ठ है कि अभिवादनशील मनुष्य नित्य वृद्धोंकी सेवा करे तो उसके आयु, विद्या, यश (कीर्ति) और बल—इन चारमें वृद्धि होती है। यह उक्ति प्रत्यक्षतः मेरे जीवनमें भी घटित हुई। सन् १९७४ ई० में मैंने अपनी पढ़ाई तथा प्रशिक्षण पूर्ण कर लिया था। मैं नौकरी खोज रहा था कि तभी एक सौभाग्य मुझे मिल गया। मुझे पिताजीने आदेश किया कि मैं गाँवमें अपने वृद्ध दादाजी तथा दादीजीके साथ रहूँ। पिताजी स्वयं सरकारी सेवामें हमारे गाँवसे लगभग १२० किमी० दूर थे। मेरे छोटे भाई-बहन तथा माताजी उनके साथ ही रहते थे। गाँवमें मैं पूज्य दादाजी एवं दादीजीके साथ रहने लगा। उनके दैनिक कार्योंमें सहायता करने लगा। वे जो काम

बताते या इच्छा व्यक्त करते, मैं खुशी-खुशी उसे पूरा कर देता। बदलेमें आशीष मिलते और मुझे सन्तुष्टि मिलती। दादाजी विनोदी स्वभावके साथ-साथ पशु-चिकित्सा एवं कृषिकार्यके भी महारथी थे। उनके अनुभवी संस्मरण आज भी प्रासंगिक हैं। दूसरे गाँवोंके भी अनेक लोग अपने पशुओंका इलाज उनसे कराते थे। इलाज वे नि:शुल्क किया करते थे। मैं देखकर आश्चर्य किया करता था कि दूरतक पैदल जाकर भी चिकित्साके बदले वे कुछ नहीं लेते थे। उनके बाद पशु-चिकित्साको मैं भी अपनाऊँ उनकी ऐसी इच्छा थी। मैंने यथाशक्ति उनकी इच्छा पूरी भी की, जिससे गाँवके लोगोंको भी राहत मिली और मुझे सम्मान एवं सन्तुष्टि। कुछ माह तो हमारे ठीक बीते, परंतु अगस्त सन् ७४में दादाजी बीमार हो गये। पहले तो वे अपनी ही आयुर्वेद-सम्बन्धी दवाएँ लेते रहे, परंतु लाभ कम होनेपर उन्हें शहरमें जाकर चिकित्सा लेनी पड़ी। कुछ विशेष लाभ नहीं हुआ और उनका स्वास्थ्य गिरता ही चला गया। मैं लगभग हर समय उनके पास ही रहकर उनकी सेवा-शुश्रूषा करता रहा। उनको दवा समयपर देता। खान-पानका प्रबन्ध करता। उन दिनों ग्रामीण लोग शौच-निवृत्तिके लिये खेतोंमें जाया करते थे, घरोंमें शौचालय बनानेका प्रचलन नहीं था। उनको कमजोरीके कारण शौच जानेमें परेशानी होती थी, इसलिये घरमें ही एक अस्थायी शौचालय बना दिया था। वहाँतक जानेमें भी उन्हें बहुत कष्ट होता था और मैं यदि सहारा देकर साथ चलता तो वे संकोच करते थे।

एक दिन स्वास्थ्य ज्यादा खराब हो गया। संयोगसे पिताजी भी उसी दिन आ गये। दादाजीको अच्छा लगा; क्योंकि पिताजी दादाजीके इकलौते पुत्र हैं। रातमें दादाजीकी तबियत और बिगड़ी, उन्हें शौचके लिये जाना था। पिताजीने दादाजीको सहारा देना चाहा तो उन्होंने मना कर दिया और मुझे ही बुलाया; क्योंकि मैं दादाजीके कार्य करनेका अभ्यस्त हो चुका था, अत: मैंने उन्हें सहारा दिया और शौचसे निवृत्ति करायी। दादाजीका गला रुँधा-सा लगा तो मैंने लालटेन जलाकर उजाला किया। देखा तो दादाजीकी आँखोंसे आँसू बह रहे थे। मैंने और पिताजीने इस स्थितिका कारण जाननेकी कोशिश की तो वे ज्यादा कुछ नहीं बोले, पिताजीसे यही कहा—'नरेन्द्रने मेरी बहुत सेवा की है, भगवान् इसे सदा सुखी रखें...।' पिताजीने शायद इसी मनोरथके लिये मुझे दादाजीकी सेवा सौंपी थी। मैंने देखा कि पिताजीकी आँखें प्रसन्नतासे भर आयीं और उन्होंने दोनों हाथ जोड़कर शायद ईश्वरको धन्यवाद दिया। मैं तो अवाक्-सा देखता रहा कि हो क्या रहा है? पौ फटनेसे कुछ पूर्व ही दादाजीने स्वर्गको प्रयाण कर दिया। इस दिन अनन्त चतुर्दशी थी।

उपर्युक्त घटनाका प्रसंग मैंने इसीलिये किया है कि दादाजीकी सेवाका पुण्यफल है कि मैं अपने जीवनमें शान्त एवं सन्तुष्ट हूँ। नौकरी भी मुझे सम्मानजनक मिली और किसी प्रकारका असन्तोष नहीं रहा, जीवनमें जो भी कुछ मिला, वह ईश्वरकी कृपा एवं वृद्धजनोंके शुभाशीषका परिणाम है।

पिताजीका सामाजिक दायरा काफी बड़ा है, दादाजीके स्वर्गारोहणके बाद पिताजी मेरे द्वारा की गयी सेवा और दादाजीकी सन्तुष्टिका खुले मनसे बखान करते हैं। रिश्तेदारी एवं गाँवमें सभी लोग मुझे स्नेहिल भावसे देखते हैं।—**नरेन्द्रकुमार शर्मा**

(४)

गोमाताकी सेवाने संकटसे बचाया

बात अशोकनगर जिलेके ग्राम सोवतके एक सज्जनकी है। यह अद्भुत घटना उन सज्जनके द्वारा इस प्रकार उन्हींके शब्दोंमें प्रस्तुत की गयी है—

मैं एक अनपढ़ व्यक्ति हूँ। मेरे तीन बेटे हैं। बचपनसे ही मैं गोमाताकी सेवा करता आ रहा हूँ। मेरे दादाजीने मुझे गोमाताकी बीमारियोंको दूर करनेका मन्त्र सिखाया था। इस मन्त्रके प्रभावसे मैंने कई गायोंको ठीक किया और अभी भी मैं इस सेवामें लगा हुआ हूँ। दूर-दूरसे लोग मुझे गायके बीमार होनेपर बुलाते हैं। तब मैं घरके समस्त कार्योंको छोड़कर गोमाताकी सेवाकी

भावनासे साधन न होनेपर भी पैदल ही दूसरे गाँवतक चला जाता हूँ।

इसी सेवाका फल है कि आजसे ७-८ साल पहले मैं अपनी ससुराल 'सिरसी' गया था, वहाँपर मैं दो दिन ठहरा। उसी समय एक दिन रातमें मुझे कोई अचानक नींदमें जगाकर ले गया। मुझे पता भी नहीं था कि मैं कहाँ जा रहा हूँ। जब मैं १० या १२ किलोमीटर दूर ग्राम शाड़ोराके पासतक आ गया तब पता चला कि मैं कहाँ जा रहा हूँ! जब मैं पीछे मुड़ा तो बहुत ही भीषण अग्नि और पानी-ही-पानी दिखायी देने लगा तथा आगेकी ओर बढ़नेपर भी ऐसा ही दिखा। मैं बहुत घबरा गया था। मेरा शरीर पूरी तरह पसीनेसे भीग गया था। तब मैंने गोमाताको पुकारा कि हे माता! आज मुझे इस संकटसे बचा ले। जैसे ही मैंने इतना कहा कि अग्नि-पानी कहाँ गया, कुछ पता ही नहीं चला और उसी समय गोमाताने मुझे दर्शन भी दिये।

इस प्रकार मैं गोमाताका स्मरण करते हुए घरतक पहुँचा। यह घटना सुबह मैंने ग्रामवासियोंको सुनायी, तब सब लोगोंने कहा कि गोमाताने तुम्हारी रक्षा की है।

गोमाताकी सेवाका फल कभी व्यर्थ नहीं जाता। वे किसी-न-किसी रूपमें हमारी जरूर रक्षा करती हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं है। जो लोग गोमाताको जानवर समझते हैं, वे कभी पुण्यको प्राप्त नहीं हो सकते हैं तथा जीवनभर दुखी रहते हैं।—**महाराजसिंह रघुवंशी**

(५)

साइकिलसवारकी निःस्वार्थ सेवा

मैं १८ जनवरी, सन् १९९२ ई० को उपचारहेतु मेडिकल सेण्टर, टोहाना गया। चेकअप करवाकर मैं वहाँसे ११ बजकर २५ मिनटपर कार्यमुक्त हो गया। अपने शहर मानसा पहुँचनेके लिये मुझे दोपहर बाद १२ बजकर २५ मिनटपर टोहानासे रवाना होनेवाली गाड़ी पकड़नी थी। गाड़ी पहुँचनेमें अभी एक घण्टेका समय शेष था, अतः मैंने पैदल ही स्टेशन पहुँचनेका विचार बनाया। मेडिकल सेण्टरसे स्टेशनतक २५ मिनटका रास्ता है। मुझे रास्तेका निश्चित रूपसे पता नहीं था। मैं बाजार होकर स्टेशनको जानेवाला रास्ता पूछकर चल दिया। आगे चौकमें फिर मैंने एक व्यक्तिसे पूछा कि स्टेशन पहुँचनेके लिये किस तरफ जाया जाय? उसके दिशानिर्देशके अनुसार मैं आगे बढ़ता गया। थोड़ा आगे जानेपर ऐसा लगा मानो यह शहरके बाहरसे स्टेशनको जानेका मार्ग हो। कुछ आगे चलकर मैंने एक थ्रीह्वीलरके ड्राइवरसे पूछा कि क्या यही रास्ता स्टेशनको जा रहा है? उसने कहा—'ठीक सीधे चलते जाओ, आगे स्टेशनपर पहुँच जाओगे।' परंतु उसने सलाह दी कि पैदल तो बहुत दूर पड़ेगा, आप कोई वाहन ले लें। मैंने उसकी बातको गम्भीरतासे नहीं लिया। यही मार्ग ठीक है सोचकर मैं आगे चलता गया। लगभग एक-डेढ़ किलोमीटर चलनेके बाद मुझे शंका हुई कि मैं कहीं भटक तो नहीं गया। इसलिये मैंने एक गाड़ीवालेसे पूछा कि क्या स्टेशन पहुँचनेके लिये यह रास्ता ठीक है? उस गाड़ीवालेने सकारात्मक उत्तर दिया। अतः मैं आगे बढ़ गया।

एक किलोमीटर जानेके बाद मुझे थोड़ी घबराहट महसूस हुई, लेकिन यह सोचकर कि यह स्टेशनको जानेवाला कोई लम्बा रास्ता होगा, चलता गया।

आधा किलोमीटर आगे जानेके बाद एक साइकिल-सवार आया। उसने मेरी चालसे भाँप लिया कि यह कोई भटका हुआ राही है। इसलिये उसने मुझे अपनी साइकिलके पीछे बैठनेके लिये कहा, लेकिन मैं अपनी धुनमें मस्त होनेके कारण उसकी बात समझ न सका। फिर पाँच मीटर आगे जानेके बाद मुझे पता चला कि वह साइकिलवाला मुझे बुला रहा है। उसने मुझे अपनी साइकिलके पीछे कैरियरपर बैठनेके लिये कहा। मैंने साइकिलपर बैठते ही उसका धन्यवाद किया और पूछा अभी टोहानास्टेशन कितनी दूर है? मुझे उससे यह जानकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि यह रास्ता तो जमालवाली-

स्टेशनको जाता है। उसने मुझसे कहा कि मैं आपको जमालवाली-स्टेशनपर छोड़ दूँगा। जाखल जानेवाली गाड़ी शायद अभी न आयी हो, आप उस गाड़ीसे जाखल चले जाना। एक किलोमीटर और आगे जानेपर हमें स्टेशन भी दिखायी देने लग गया। परंतु स्टेशनकी ओरसे आनेवाले एक साइकिलसवारने हमें बताया कि गाड़ी निकल चुकी है। फिर उस कृपालु साइकिलसवारने एक ट्राली रुकवाकर उसपर मुझे बिठाया और ट्रालीवालेको मुझे टोहानास्टेशनपर छोड़नेके लिये प्रार्थना की।

रास्तेमें उस दयालु साइकिलसवारका परिचय पूछनेपर उसने मुझे बताया था कि मैं दन्तचिकित्सक हूँ। टोहानामें शास्त्रीमार्गपर मेरी डेण्टलक्लीनिक है। जमालवालीमें मेरी जमीन है। उसकी देख-रेखके लिये वहाँ जा रहा हूँ। मेरी आयु ६४ वर्ष है। एक दुर्घटनामें मेरी आँखोंकी ज्योति चली गयी थी। ऑपरेशन हुआ है। लेन्स पड़ा है, साथ ही यह ऐनक भी लगा है, तब कहीं गुजारा हो रहा है।

मैं ट्रालीपर बैठा टोहानाकी ओर जा रहा था और सोच रहा था कि वह पुरुष नहीं, पुरुषोत्तम है। क्या इस कलियुगमें ऐसे दयालु, कृपालु, निःस्वार्थ सेवक भी हो सकते हैं, परंतु दुर्घटनामें उसकी आँखोंकी ज्योति चली गयी थी, यह सोचकर मुझे बहुत दुःख हुआ। न जाने उसे किस कर्मका फल मिला था? जब कभी अपने जीवनकी इस मधुर स्मृतिके बारेमें सोचता हूँ तो मैं उसके प्रति कृतज्ञतासे भावविभोर हो जाता हूँ और मैं भी निःस्वार्थ सेवा करनेकी निरन्तर प्रेरणा प्राप्त करता हूँ। मुझे ही क्या सभीको इस घटनासे प्रेरणा लेकर निःस्वार्थ सेवाकर अपना मानवजीवन सफल करना चाहिये।—**देशराज**

(६)

जरूरतमन्द लोगोंकी सेवाका लक्ष्य

कहते हैं कि मनुष्यको रोटी, कपड़ा और मकान—इन तीन चीजोंकी जीवनमें मुख्यरूपसे आवश्यकता रहती है। भगवान्की प्रेरणासे वर्ष २००१ ई० से मैंने घरका जो अनुपयोगी कपड़ा रहता था—उससे थैला, दुपट्टा, फ्रॉक इत्यादि सिलना चालू किया। घरके समीप हमारे परिचितकी एक लेडीज टेलरिंगका कार्य करती है, उनकी शॉपसे १००-२०० रुपयेमें कटपीसका कपड़ा लाना चालू किया, उसीमें २-३ महीनेके बच्चोंके कपड़े, लँगोट, टोपा, दुपट्टा, झबला, दसना एवं ८ से १२ वर्षतकको लड़कियोंके फ्रॉक, स्कर्ट, टू-पीस, ब्लाउज इत्यादि सिलना चालू किया। धीरे-धीरे अच्छे कपड़े सिलके तैयार होने लगे फिर उन्हें आस-पड़ोसमें गरीब परिवारोंमें देना चालू किया।

१०० कपड़ा सिलनेके बाद ५०० फिर ५००० ऐसे संख्या बढ़ती गयी। सत्कार्यमें भगवान् भी प्रेरणा देते हैं। इसलिये नियम बना लिया कि रोज ५ कपड़ा सिलना है फिर महीनेमें औसत १०० तो कपड़े तैयार होते थे। हमारा लड़का गाँवमें सर्विस करने जाता है। वहाँ लोग अपनी आजीविका चलाने हेतु खेतोंमें काम करने जाते हैं, वे लोग एवं उनका परिवार आर्थिक रूपसे कमजोर रहता है, उन्हें सिले हुए कपड़े देनेमें आनन्द आता है।

श्रीडोंगरेजी महाराजका प्रवचन पढ़ा। उन्होंने कहा है कि सत्कर्मकी कभी पूर्णता मत करो। दाल-भात खानेमें कभी छुट्टी दी है क्या? फिर अच्छे काममें क्यों? जितने समयतक भगवान् हाथसे सेवा कराते रहेंगे, करना है।

अच्छे-से-अच्छे कपड़े सिलना और बाँटना बस इसी निष्काम सेवासे जीवन सार्थक करेंगे। श्रीरामजीने हमें इसमें माध्यम बनाया ऐसा मैं समझती हूँ। धीरे-धीरे १०.००० संख्या हो रही है, गिनती इसलिये कि इससे उत्साह बढ़ता रहे। अभी आगे खाली सेवा करना है, संख्याकी तरफ ध्यान नहीं देना है। सिलाई करते समय मशीनके साथ नाम-जप भी होता रहता है और प्रभुचरणोंमें सेवा समर्पण करनेसे अभिमानको कोई स्थान नहीं रहेगा।

—**श्रीमती विजया बेडेकर**

'कल्याण'के पाठकोंसे नम्र निवेदन

फरवरी माह सन् २०१५ ई० का अङ्क आपके समक्ष है। यह अङ्क उन सभी ग्राहकोंको भी भेजा गया है, जिनको सन् २०१५ ई० का विशेषाङ्क **'सेवा-अङ्क'** वी०पी०पी० द्वारा भेजा गया है, लेकिन उसका भुगतान हमें प्राप्त नहीं हो पाया है। जिन ग्राहकोंकी वी०पी०पी० किसी कारणसे वापस हो गयी है, उनसे अनुरोध है कि सदस्यता-शुल्क मनीआर्डर/ड्राफ्टसे भेजकर रजिस्ट्रीसे पुन: मँगवानेकी कृपा करेंगे। वी०पी०पी०से पुन: मँगवाने-हेतु अनुरोध-पत्र भेजना चाहिये।

जिन ग्राहकोंको सदस्यता-शुल्क भेजनेके उपरान्त भी उनके रुपये यहाँ न पहुँचने अथवा उनके रुपयोंका यहाँ समायोजन आदि न हो सकनेके कारण वी०पी०पी०से अङ्क प्राप्त हो गया है, उनसे अनुरोध है कि वे किसी अन्य व्यक्तिको वह अङ्क देकर ग्राहक बना दें और उनका नाम, पूरा पता तथा अपनी ग्राहक-संख्या आदिके विवरणसहित हमें भेज दें, जिससे उन्हें नियमित ग्राहक बनाकर भविष्यमें 'कल्याण' सीधे भेजा जा सके। यदि नया ग्राहक बनाना सम्भव न हो तो पूर्व जमा रकमकी वापसी या समायोजनहेतु पत्र भेजना चाहिये।

व्यवस्थापक—**'कल्याण-कार्यालय', पत्रालय—गीताप्रेस, गोरखपुर—२७३००५ (उ०प्र०)**

SUBSCRIBE : **KALYANA-KALPATARU**

Annual Subscription Rs. 120 (Year—Oct. 2014 to Sept. 2015)

Now Available—Special Issue—**'ŚAKTI NUMBER'**

Manager, Kalyana-Kalpataru, P.O.—Gita Press, Gorakhpur—273005 (U.P.)

नवीन प्रकाशन—छपकर तैयार

आदर्श सन्त, ग्रन्थाकार, रंगीन (कोड 2026)—इस पुस्तकमें संत ज्ञानेश्वर, श्रीनामदेव, संत एकनाथ, समर्थ स्वामी रामदास, श्रीरामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द आदि ३२ महान् संतोंके संक्षिप्त परिचयको रंगीन चित्रोंके साथ सुन्दर आर्टपेपरपर प्रकाशित किया गया है। मूल्य ₹२५

आदर्श सुधारक, ग्रन्थाकार, रंगीन (कोड 2028)—इस पुस्तकमें महात्मा जरथुस्त्र, हजरत मूसा, महात्मा सुकरात, दार्शनिक प्लेटो, महात्मा टालस्टाय, राजाराममोहन राय, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, स्वामी दयानन्द सरस्वती आदि ३२ समाज सुधारकोंके जीवन-परिचयको सुन्दर आर्टपेपरपर प्रस्तुत किया गया है। मूल्य ₹२५

भक्त-विजय-मराठी (कोड 2000)—मराठी संत-साहित्यकी इस पुस्तकमें भक्त जयदेव, तुलसीदास, नामदेव, संत कबीर, भक्त कमाल, जगमित्र नागा, नरसी मेहता, सूरदास, मीराबाई आदि ५८ संत-भक्तोंके चरित्रका संग्रह किया गया है। संतोंके जीवन-चरित्रका पठन-पाठन भगवद्भक्तिका सुन्दर सोपान है। मूल्य ₹१२०

श्रीदुर्गासप्तशती-सटीक-तेलुगु (कोड 987)—इस पुस्तकमें पाठविधि, शापोद्धार, कवच, अर्गला, कीलक, वैदिक, तान्त्रिक रात्रिसूक्त, नवार्णविधि, सप्तशतीका मूल पाठ सानुवाद, तीनों रहस्य, क्षमा-प्रार्थना, सिद्धकुञ्जिका तथा पाठके विभिन्न प्रयोगोंको तेलुगु वर्णान्तरमें छापा गया है। मूल्य ₹४०

विदुरनीति-तेलुगु (कोड 986)—प्रस्तुत पुस्तकमें नीतिशास्त्रके प्रकाण्ड विद्वान् श्रीविदुरजीके द्वारा धृतराष्ट्रको दिये गये उपदेशोंका संकलन है। मूल्य ₹१५

तिरुप्पावे (सटीक) विष्णुसहस्रनामस्तोत्र-तेलुगु (कोड 988)—मूल्य ₹१०

लक्ष्मीसहस्रनामस्तोत्र नामावलिसहित-तेलुगु (कोड 1754)—मूल्य ₹६

विश्व-पुस्तक-मेला सन् २०१५—प्रगति मैदान नयी दिल्लीमें १४ फरवरीसे २२ फरवरीतक आयोजित हो रहा है, जिसमें गीताप्रेसद्वारा भव्य पुस्तक-स्टॉल लगाया जा रहा है।

प्र० ति० २०-१-२०१५
रजि० समाचारपत्र—रजि०नं० २३०८/५७ पंजीकृत संख्या—NP/GR-13/2014-2016
LICENSED TO POST WITHOUT PRE-PAYMENT | LICENCE No. WPP/GR-03/2014-2016

श्रीमहाशिवरात्रिपर्वपर पाठ-पारायण एवं स्वाध्याय-हेतु प्रमुख प्रकाशन
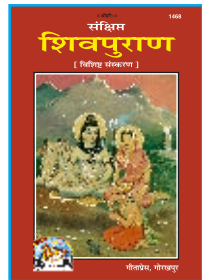
संक्षिप्त शिवपुराण, सचित्र (मोटा टाइप) कोड 1468, विशिष्ट सं०, सजिल्द— इस पुराणमें परात्पर ब्रह्म श्रीशिवके कल्याणकारी स्वरूपका तात्त्विक विवेचन, रहस्य, महिमा और उपासनाका विस्तृत वर्णन है। भगवान् शिवके उपासकोंके लिये यह पुराण संग्रह एवं स्वाध्यायका विषय है। मूल्य ₹ २५०, डाक एवं पैकिंग खर्च ₹ ४५ अतिरिक्त। सामान्य सं० (**कोड 789**) मूल्य ₹ २००, डाक एवं पैकिंग खर्च ₹ ४० अतिरिक्त। (**कोड 1286**) गुजराती, (**कोड 975**) तेलुगु, (**कोड 1937**) बँगला, (**कोड 1926**) कन्नड भी उपलब्ध।

कोड	पुस्तक-नाम	मू० ₹	कोड	पुस्तक-नाम	मू० ₹	कोड	पुस्तक-नाम	मू० ₹
2020	**शिवमहापुराण**-मूलमात्रम्	२५०	1156	**एकादश रुद्र (शिव)**-चित्रकथा	५०	228	**शिवचालीसा**-पॉकेट साइज	३
1985	**लिङ्गमहापुराण**-सटीक	२००	204	**ॐ नमः शिवाय** ,,	२५	1185	**शिवचालीसा**-लघु	२
1417	**शिवस्तोत्ररत्नाकर**-सानुवाद	३०	1343	**हर हर महादेव** ,,	२५	1599	**श्रीशिवसहस्त्र...**नामावलि...	८
1899	**श्रावणमास-माहात्म्य** ,,	३२	1367	**श्रीसत्यनारायणव्रतकथा**	१२	230	**अमोघ शिवकवच**	३
1954	**शिव-स्मरण**	१०	563	**शिवमहिम्नःस्तोत्र**	५	1627	**रुद्राष्टाध्यायी**-सानुवाद	३०

नवरात्रके अवसरपर पाठके लिये 'श्रीरामचरितमानस' के विभिन्न संस्करण

कोड	पुस्तक-नाम	मू० ₹	कोड	पुस्तक-नाम	मू० ₹
1389	**श्रीरामचरितमानस**—बृहदाकार (वि०सं०)	६००	82	**श्रीरामचरितमानस**—मझला साइज, सटीक, [बँगला, गुजराती, अंग्रेजी रोमन भी]	१२०
80	,, बृहदाकार, सटीक (सामान्य संस्करण)	५००			
1095	,, ग्रन्थाकार, सटीक (वि०सं०) गुजरातीमें भी	३००	1318	,, रोमन एवं अंग्रेजी-अनुवादसहित	३००
81	,, ग्रन्थाकार, सटीक, सचित्र, मोटा टाइप, [ओडिआ, तेलुगु, मराठी, गुजराती, कन्नड, अंग्रेजी भी]	२४०	83	,, मूलपाठ, ग्रन्थाकार [गुजराती, ओडिआ भी]	१२०
			84	,, मूल, मझला साइज [गुजराती भी]	७०
1402	,, सटीक, ग्रन्थाकार (सामान्य संस्करण)	१९०	85	,, मूल, गुटका [गुजरातीमें भी]	४५
1563	,, मझला, सटीक (विशिष्ट संस्करण)	१४०	1544	,, मूल गुटका (विशिष्ट संस्करण)	५०
1436	,, मूलपाठ, बृहदाकार	२५०	1349	,, सुन्दरकाण्ड सटीक, मोटा टाइप, दो रंगोंमें	२५

अब गीताप्रेस वेबसाइटपर

गीताप्रेस, गोरखपुरकी निम्न वेबसाइटपर निजी पठनके लिये मुफ्त डाउनलोडकी सुविधा।

१. **'कल्याण'** मासिक अङ्कोंके तथा विशेषाङ्कोंके चुने हुए लेख **kalyan-gitapress.org** पर।
२. **अंग्रेजी 'कल्याण-कल्पतरु'** के लिये **kalyana-kalpataru.org** पर।
३. गीताप्रेससे प्रकाशित अंग्रेजी, हिन्दी, गुजराती, मराठी, तेलुगु आदि भारतीय भाषाओंकी कई महत्त्वपूर्ण पुस्तकें तथा **कल्याण, Kalyana-Kalpataru** का सदस्यताशुल्क भेजनेकी सुविधा एवं **प्रकाशनोंकी सूची** आदि **gitapress.org** पर।
४. **पाठकगण online पुस्तकें मँगवायें**—**gitapressbookshop.in**